महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित
श्रीभागवत विवृति

सुबोधिनी

हिन्दी भावानुवाद

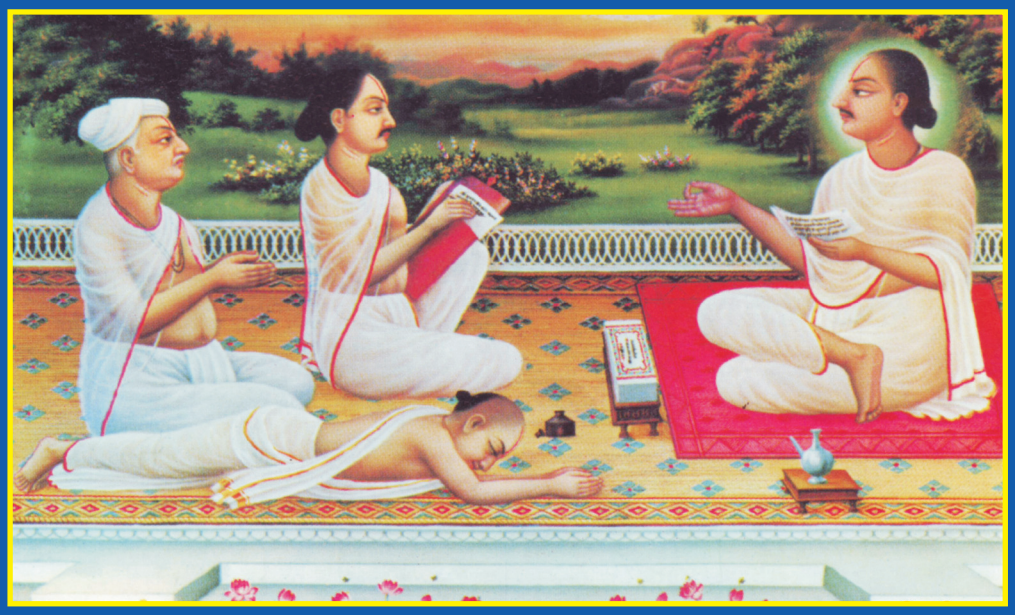

एकादश स्कन्ध

खंड १४/ख

जय श्रीकृष्ण

श्रीवल्लभाधीशो जयति

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित

श्रीभागवत विवृति

'सुबोधिनी'

एकादश स्कन्ध

हिन्दी भाषानुवाद

अनुवादक:

गो.वा.श्रीफतहचन्द वासु(पुष्करणा), जोधपुर

श्रीमद्भागवत महापुराण

एकादश स्कन्ध

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद

जीव मुक्ति(ब्रह्मभाव) प्रकरण

अध्याय १

भगवान्का मुक्तिलीला विहार तथा यदुकुलका उपसंहार

इस प्रथम अध्यायमें भगवान्का स्वरूप व्यवस्थितिरूप मुक्ति-लीला विहारमें वैराग्यरूपी बीजका कथन है. विद्याके प्रथम पर्व वैराग्य उत्पन्न करनकेलिए, भगवन्मतको जाननेवाले विप्रोंसे यादवोंको ब्रह्म शापकी प्राप्ति हुई. मूसल प्रसंगके बहानेसे यदुकुलका संहार भगवान्ने ही किया है. पंच पर्वाका मुख्य अंग वैराग्य वह है जो जीवके अन्तःकरणाध्यासका निवारण करे. जो कि प्रभुको इष्ट है, उस ही का निरूपण यहां किया जाता है.

स्कन्धार्थमें संकर्षण चरित्रको भूभार हरण बताया गया है.

अथैकत्रिंशिताध्यायैः मुक्तिरेकादशे द्विधा।
ब्रह्मभावः कृष्णमोगो हरेर्धर्मैस्तथाज्ञया।।कारि.१।।

कारिकार्थ: आचार्यश्री एकादश स्कन्धके विवरण करनेकी इच्छा करते हुए सर्व प्रथम कारिकाओंद्वारा पूर्व स्कन्धोंकी संगति दिखाते हैं. यहां 'अथ' आनन्तर्यवाची है जिससे अवसर संगति बताई है.

एकादश स्कन्धमें ३१ अध्यायोंसे, १. जीव मुक्ति, २. ब्रह्म मुक्ति, ये दो प्रकारकी मुक्तिलीलाएं कही गईं हैं. जिसमें पहले श्लोकमें बतलाते हैं कि जीवकी मुक्ति दो तरहसे होती है. १. ब्रह्मभावमुक्ति[१], २. सायुज्यमुक्ति[२] अर्थात् कृष्णके संयोग अथवा हरिके धर्मोंसे तथा आज्ञासे प्राप्त होती है।।१।।

१. ब्रह्मभावा मुक्तिमें जड़में तिरोहित चिदानन्दांश एवं जीवमें तिरोहित आनन्दांश प्रगट होकर सर्वत्र सच्चिदानन्दता प्रदर्शित होती है. अर्थात् हरिके सच्चिदानन्द धर्म इनमें प्रगट होते हैं. जिनका वर्णन १ से ५ अध्यायोंमें 'धर्मान् भागवतान्' श्लोकसे 'ब्रह्मभूयाय कल्पते'में किया गया है.

२. सायुज्य मुक्ति जो कि भगवदाज्ञासे होती है जिसका स्पष्ट वर्णन(भा.स्क.११।२९। ४१-४४) तक है. ''गच्छोद्धव मयादिष्टः मामेष्यसि ततः परं'' किया है.

अविद्या पञ्चपर्वा हि तन्नाशे प्रथमा भवेत्।

प्रकृत्यतिक्रमे चान्या ततोऽध्यायास्तथा द्वये।।कारि.२।।

कारिकार्थ: दूसरी कारिकामें कहते हैं कि जीवकी ब्रह्मभावामुक्ति एवं सायुज्यमुक्तिमें प्रतिबन्धक पञ्चपर्वा अविद्या: १. देहाध्यास २. इन्द्रियाध्यास ३. प्राणाध्यास ४. अन्तःकरणाध्यास ५. स्वरूप विस्मृति ६. प्रकृति है. अविद्याके नाश होने पर जीव ब्रह्म भावको प्राप्त करता है. अविद्या पञ्चप्रकारा होनेसे इसका वर्णन पांच अध्यायोंमें किया गया है. प्रकृतिके २४ तत्त्व हैं अतः इसका वर्णन २४ अध्यायों(६ अध्यायसे २९ अध्याय)में किया गया है. इन तत्वोंके अतिक्रमण (लांघने) पर जीव कृष्ण–सायुज्यमुक्ति प्राप्त करता है।।२।।

जनकश्चोद्धवश्चैव सात्त्विको राजसस्तथा।

पुष्टिमार्गस्य मुख्यत्वाद् विपरीता गतिर्गुणैः।।कारि.३।।

कारिकार्थ: तीसरी कारिकामें उद्धवजीने राजस अधिकारी होते हुए भी उत्तम फल प्राप्त किया और जनक सात्त्विक होते हुवे भी उत्तम फल क्यों न ले सके? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं कि फल देनेमें पुष्टिमार्गमें अनुग्रहमार्गकी मुख्यता है. पुष्टिमार्गकी गति गुणोंसे विपरीत है, कारण कि पुष्टिमार्गमें भगवदनुग्रह ही फल दाता है. इस कारणसे वहां गुणोंका बल नहीं चलता है. अतः भगवत्कृपासे राजस उद्धवजीको भगवत्सायुज्य प्राप्त हुआ और जनक सात्त्विक होते हुवे भी ब्रह्मभाव मुक्ति ही प्राप्त कर सके क्योंकि वहां भगवदनुग्रह नहीं था।।३।।

मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।

जीवब्रह्मविभागेन द्विधा द्वयम् उदीर्यते ।।कारि.४।।

कारिकार्थ: चौथी कारिकामें शेष ३० व ३१ वें दो अध्यायोंमें जिस प्रकार ब्रह्ममुक्ति लीला की है उसका वर्णन करते हैं. ''अन्यथा रूपका त्यागकर ब्रह्मकी स्वरूपमें स्थिति'' ब्रह्ममुक्ति है, अर्थात् ब्रह्मने भूभार दूर करने हेतु मनुष्य नाट्य लीलोपयोगी व्यूह सहित जिस रूपको धारण किया था, मनुष्यको जिस रूपमें अन्यथा प्रतीत होती थी उसका नटवत् स्वेच्छासे त्यागकर भगवान्ने स्व स्वरूप जो कि निर्गुण व्रजोद्धारक है उसमें स्थिति की, इसीको 'ब्रह्ममुक्ति' कही गई है. भगवान्ने यादवोंमें प्रविष्ट अपने प्रद्युम्नादि अंशोंका भी गुणाभिमान त्याग कराकर स्व स्वरूपोंमें स्थिति कराई है. जीव और ब्रह्म मुक्तिके पृथक् विभाग होनेके कारण ही दो प्रकारसे वर्णन किया है।।४।।

तामसा राजसाश्चैके तत आद्ये द्वयं मतम्।

अंसाश्च भगवांश्चेति द्वितीयोऽपि द्विधा मतः।।कारि.५।।

कारिकार्थ: पांचवी कारिकामें तामस भक्त और राजस भक्त दोनों पुष्टि(अनुग्रह)के कारण एक प्रकारकी कोटिमें आ जाते हैं. यथा दशम-स्कन्धमें तामस गोपीजनोंने सर्वात्मभाववाले होनेसे ब्रह्म सायुज्य प्राप्त किया, और यहां राजस उद्धवजीको सर्वात्मभावसे ब्रह्म सायुज्य प्राप्त हुआ, अतः तामस राजस दोनोंकी एक कोटि हो गई, अर्थात् यहां पुष्टिमार्गमें गुणोंका आधिक्य नहीं अपितु भगवदनुग्रहका प्राबल्य है।।५।।

ततः पञ्चभिराद्या स्यात् चतुर्विंशतिभिः परा।

एकैकेनेश्वरस्तस्योक्ते त्याज्यांशाभावतः परे।।कारि.६।।

कारिकार्थ: छठी कारिकामें कहते हैं कि जीव ब्रह्मभावा मुक्तिका वर्णन ११ वें स्कन्धमें १ से ५ अध्याय तक किया है. सायुज्य मुक्तिका वर्णन ६ से २४ अध्यायोंमें किया है. ब्रह्ममुक्ति प्रकरण भी दो प्रकारका होनेसे प्रत्येकका पृथक्-पृथक् अध्यायमें वर्णन किया है. तथा ३० वें अध्यायमें अपने प्रद्युम्नांशोंकी मुक्तिका वर्णन है. ३१ वें अध्यायमें ईश्वरमुक्ति वर्णित है. एक अध्यायमें वर्णन करनेके अभिप्रायको स्पष्ट करते हुवे आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि जिस प्रकार जीवमें प्राकृत त्याज्य अंश है, इस प्रकार ईश्वरमें प्राकृत-त्याज्य अंश नहीं है, अतः एक ही अध्यायमें वर्णन हुआ है।।६।।

ममाहम्मतिनाशार्थं प्रक्रियाद्वितयं मतम्।

तयोरभिनयः पश्चात् कृतो भगवतेति च।।कारि.७।।

कारिकार्थ: सातवीं कारिकामें कहते हैं कि अहंता ममताके नाशार्थ दोनों प्रकरणोंमें दो-दो प्रक्रियाएं कही हैं. जीवकी अहंता ममता नाश होनेके पश्चात् ही उसकी मुक्तिका मार्ग सरल हो जाता है. भगवान्ने तो अहंता ममता त्यागका केवल नट्की भांति नाट्य कर दिखाया है, वस्तुतः ईश्वरमें अहंता ममता जो प्राकृत गुण हैं, वे हैं ही नहीं।।७।।

ततश्च प्रथमेऽध्याये बीजद्वयम् उदीर्यते।

ब्रह्ममुक्तिर्निजेच्छातो वैराग्येणेतरस्य च।।कारि.८।।

कारिकार्थ: आठवीं कारिकामें कहते हैं कि ११ वें स्कन्धके प्रथम अध्यायमें दोनोंके बीज कहे हैं. यथा ब्रह्म अपनी मुक्ति(स्वस्वरूपमें स्थिति)

स्वेच्छा(अपनी इच्छा)से करता है, तथा जीवकी मुक्ति(अहन्तामममतादि प्राकृत गुणोंके बन्धनसे छूटकर ब्रह्मभाव प्राप्त करता है) वैराग्यसे होती है।।८।।

चतुर्धा मुक्तिपक्षश्च तदिच्छात इति स्थितिः।

कारिकार्थः अद्‌र्ध कारिकामें कहते हैं कि–चार प्रकारकी मुक्तिका वर्णन जो तृतीय स्कन्धमें हुआ है, वह भगवान् स्वेच्छासे वा अपने भक्तोंकी इच्छासे करते हैं, अर्थात् भगवान् अपनी इच्छासे जिस जीवको जैसी मुक्ति देना चाहते हैं, उससे तथावत्(उस प्रकारके) साधन कराके वा कृपासे वह मुक्ति दे देते हैं, अथवा भक्तोंकी जैसी मुक्ति लेनेकी इच्छा हो वैसी दे देते हैं. वास्तवमें, जो भक्त सेवारसमें आनन्दित हैं वे मुक्तिकी इच्छा ही नहीं करते हैं.

एकैकेन त्रिभिश्चेति काय–वाङ्–मनसा कृतम्।।कारि.९।।

कारिकार्थः कायिक, वाचनिक और मानसिक तीनोंसे अथवा एक–एकसे दुर्योधनादिने पाण्डवादि सभीको नानाविध दुःख दिए, जिनको निमित्त बनाकर भगवान्ने उनके द्वारा भूभार हरण किया।।९।।

आभासार्थः इस प्रकरणमें बीज प्रकारसे ईश्वरेच्छासे सात श्लोकोंमें मुक्तिका प्रकार कहते हैं. ईश्वरकी मुक्तिमें भूभार हरण ही बीज है, जिसका वर्णन पांच श्लोकोंमें करते हैं:

बादरायणिरुवाच

कृत्वा दैत्यवधं कृष्णः सरामो यदुभिर्वृतः।
भुवोऽवतारयद् भारं जविष्ठं जनयन् कलिम्।।१।।

श्लोकार्थः श्रीशुकदेवजीने कहा, कि श्रीकृष्णने बलरामजी सहित यदुवंशियोंसे वेष्टित दैत्यवध(कंस जरासंधादि) करके अत्यधिक कलि(कलह) उत्पन्नकर भूमिका भार उतारा।।१।।

व्याख्यार्थः तीन प्रकारसे दिए हुए दुःखोंमेंसे पहलेको कायिक कहते हैं. यहां जो वर्णन किया जाता है, वह अनुवाद नहीं है. किन्तु अपूर्व प्रकारसे भूभाररूप दैत्योंके वधका निरूपण है. 'भूमिर्दृप्तनृपव्याज' इस श्लोकमें जिन दैत्योंका निरूपण है, वे यद्यपि कंस–जरासन्ध आदि हैं, तथापि उनका वध वहां(दशम स्कन्धमें), निरोध शेषत्वसे हुआ है. जिससे वहां भूभार हरण निरोध शेषसे है, इसलिए यहां फिर स्वतन्त्रतासे कहा जाता है, निरोध शेषसे नहीं. किन्तु भूभार हरण शेषसे कहा गया है अतः यह ... है.

प्रक्रियासे[१] पृथक्कर फलान्तर सम्बन्धकेलिए फिर कहा जाता है, भिन्न-भिन्न प्रयोजनकेलिए एक ही अर्थ बहुत प्रकारसे श्रुतियोंमें निरूपण किया गया है, जैसे कि ''वाग् वै देवेभ्यः'', यहांसे प्रारम्भकर ''ते देवा वाच्य-प्रक्रान्तायां'', वहां यों निर्णय किया गया है.

१. इस पंक्तिका आशय प्रकट करते हुवे प्रकाशकार कहते हैं कि यदि यहांका वर्णन निरोध शेषसे हो तो कालनेमिकी तरह इनका मोक्ष न होवे, कारण कि यहां तादर्थ्यका अभाव है. वैसा होने पर फिर उत्पत्ति होनेसे पुनः पृथ्वी भारसे पीड़ाको प्राप्त हो जाए, जिससे पृथ्वीद्वारा, की हुई प्रार्थना व्यर्थ हो जावे.

इस प्रकार उनकी मुक्ति होने पर फिर उत्पत्ति न होनेसे पृथ्वीकी कार्य-सिद्धि होती है. इसलिए यहांका वर्णन अनुवाद नहीं.

दैत्य वध्यत्वकेलिए जो प्रकार है वह पूर्व सिद्ध ही है. यहां श्रीकृष्ण संकर्षणरूप हैं. क्योंकि एकादश-स्कन्धार्थ संकर्षणांश ही है, अर्थात् भगवान्ने एकादश स्कन्धकी लीला संकर्षणांशरूपसे की है, जैसे स्वरूपका भूभार नाशकत्व है. वह बतानेकेलिए कहते हैं, कि भगवान् बलभद्र और यादवोंके साथ पधार रहे हैं. वहां केशवत्व स्वरूप बतानेकेलिए 'सरामः' पद दिया है. पृथ्वीके भारका हरण करनेकेलिए ही अंश रूपोंका भी अवतार हुआ है. उनका उपयोग बतानेकेलिए 'यदुभिः' पद दिया है. उनसे आप वेष्टित हैं अथवा यादव-देव हैं उन्होंने भूभार हरणकी प्रार्थना की थी.

भूभार हरणकेलिए प्रार्थनाकी क्या आवश्यक्ता थी? कारण कि, प्रभु इस विषयको जानते ही हैं. इस शंकाके निवारणकेलिए कहा है, कि आसन्यकी पीड़ामें अपनी देह ही भार है, फिर पीड़कका भार क्या? अतः भार लेशके भी परिहारकेलिए प्रार्थना आवश्यकीय है. उस भारको किस तरह शीघ्र उतारा जावे इस विचारसे भगवान्ने ''सर्वत्र भयंकर कलह उत्पन्न कराके यह भार उतारा जाय'', यह युक्ति निकाली. इस प्रकारका अर्थ दशम-स्कन्धमें कहीं भी नहीं है, जिससे एकादश-स्कन्धमें अनुवाद है यह शंका हो, ''यो वै ममातिभरम् आसुर-वंशराज्ञां'' यहां इसका ही अनुवाद है. इससे दशम-स्कन्धमें नहीं कहा हुआ भूभाररूप दैत्योंके वधरूप चरित्रका वर्णन यहां कहा है, यों सिद्ध हुआ अर्थात् यहां कहा हुआ चरित्र दशमका अनुवाद नहीं है।।१।।

ये कोपिताः सुबहु पाण्डुसुताः सपत्नैः दुद्यूत-हेलन-कचग्रहणादिभिस्तान्।

कृत्वा निमित्तमितरेतरतः समेतान् हत्वा नृपान् निरहरत् क्षितिभारमीशः।।२।।

श्लोकार्थः दुर्योधनादि शत्रुओंने पाण्डवोंसे कपट द्यूत आदिकर इनका बहुत प्रकारसे अपमान किया, जैसे उनकी स्त्री द्रोपदीको केशोंसे खेंचकर सभामें लाकर नग्न किया, और अपमानके शब्द कहे. इत्यादि कुकृत्योंसे पाण्डवोंको क्रोधित किया, तब भगवान्ने इनको निमित्त बनाकर पृथ्वीके भाररूप राजाओंका नाश कराके भूमिका भार उतारा।।२।।

व्याख्यार्थः अब 'ये कोपिताः' श्लोकसे वाचनिक अपराध कहते हैं, भगवान् अक्लिष्टकर्मा होनेसे जो भगवान्के समक्ष समरमें नहीं मारे गए वे तो भगवान्ने स्वयं मारे और जो दुर्योधन आदि भगवद्विरोधी नहीं थे परस्पर विरुद्ध हुए थे, भगवान्के साथ तो समान भाववाले थे, उनमेंसे जिन्होंने भगवदाज्ञा मानी उनसे दूसरों(भगवदाज्ञा न माननेवालों)को मरवाए, अर्थात् पाण्डवोंने भगवदाज्ञा मानी सो उनसे दूसरे जिन कौरवोंने भगवदाज्ञा न मानी उनका नाश कराया, जिसका विस्तार महाभारतमें किया गया है. कौरवोंने अनेक अपराध कर पाण्डवोंको बहुत क्रोधित किया, जो अपराध, जैसे लाक्षागृह आदि तुल्य दशामें अर्थात् पाण्डवोंकी 'बाल्यावस्थामें किए थे' उनसे क्रोध उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु द्यूत(जूआ) कपटसे खेला गया है, इसका ज्ञान होने पर पाण्डवोंको क्रोध आया, उससे भी विशेष क्रोध अपमानके शब्दों से हुआ, जैसे 'षण्ढतिलाः पाण्डवाः' पाण्डव नपुंसक हैं इनमें कोई शक्ति नहीं है, ये तेल निकाले गए तिलोंके तुषोंके समान हैं, इत्यादि वाचनिक अपराध कौरवोंने किया, द्रोपदीके केशोंका खींचना, कायिक अपराध है अथवा मानस है, कोई कहते हैं कि प्रथम कायिक है, केशोंके आकर्षणका अन्यभाव(मानस भाव) सिद्ध करते हैं, इस कर्म अर्थात् साधन(कौरवोंके अपराध) और फलका(पाण्डवोंका क्रोध) बहुत कालके बाद प्रकाश हुआ, जिससे अवश्यम्भावी क्रिया हुई(युद्ध हुआ) पाण्डवोंके हृदयकी स्थिति सुयोग्य थी. 'पाण्डोः सुताः' पदका भावार्थ बताते हैं कि वे वीरके पुत्र थे इसलिए शत्रु कृत अपमान भूल नहीं गए और वे स्वतः शत्रुओंसे बदला लेनेकी सामर्थ्यवाले हैं, इसलिए मूल श्लोकमें 'सपत्नैः' विशेषण दिया है, जिसका आशय है कि पाण्डव भी कौरवों जैसे बलिष्ठ हैं, उनसे कम नहीं है. मूल श्लोकमें 'दुर्द्यूत'के साथ 'आदि' शब्द देनेका भावार्थ यह है कि ऐसे अन्य भी क्रोध उत्पन्न करनेके बहुत कर्म दुर्योधनादिने किए हैं.

भगवान्ने इस प्रकार, भार उतारनेकेलिए भूमि पर कलह उत्पन्न किया, जिस कलहको युद्धका निमित्त बनवाया, भगवान्ने कलह क्यों उत्पन्न कराया? जिसका उत्तर देते हैं कि दोनों(पाण्डवों और कौरवों)की प्रार्थनासे यों किया. कलह उत्पन्न न होता तो युद्धका निमित्त न होनेसे युद्ध न होता, तो भूमि पर भार-भूत राजादिका नाश न होता. अतः पृथ्वीकी प्रार्थना सिद्ध करनेकेलिए भगवान्ने यह लीला की. कौरवोंके कुकर्मोसे पाण्डव कुपित हुए, दूसरे (कौरवोंकी) आनुषङ्गितता है, पाण्डवोंने ही कौरवों पर युद्धकेलिए आक्रमण किया, कौरव तो 'नृप' हैं, जिस पदका भावार्थ है ''नृन् पाति इति नृपः'' मनुष्योंकी जो सर्व प्रकारसे पालना(रक्षा) करते हैं वे नृप हैं, इसलिए वे धार्मिक हैं उनका नाश कैसे करवाया? इस शंकाका निराकरण आचार्यश्री करते हैं कि वे(कौरव) वैसे नहीं थे, ये नट्की तरह नृप बन बैठे हैं, वास्तविक नृप नहीं हैं. अतः यहां 'नृप' पद रूढ़िमात्र है यौगिक नहीं है.

प्रथम श्लोकमें 'भारं अवतारयत्' कहा, इस दूसरे श्लोकमें 'निरहरत्' कहा जिसका भावार्थ प्रकट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि, दैत्योंके वधसे देव सुखी होंगे. अतः भारको नीचे उतारा अर्थात् पृथ्वीसे भार उतार दिया.

राजाओंके असद्भावके निराकरणसे भी कार्यकी सिद्धि हो सकती थी तो फिर भी राजाओंका निराकरण क्यों? भगवदिच्छा ऐसी थी, भगवदिच्छाको कोई रोक नहीं सकता, इसलिए यों करना उचित था, इसलिए प्रभुका नाम यहां 'ईश' दिया है. यह सर्व गीताके उपदेशसे इस प्रकार सिद्ध हुआ* है।।२।।

१. प्रकाशकार कहते हैं कि अन्यथा विश्वरूप दिखाकर युद्धमें प्रवृत्त न करते.

आभासार्थः भारके अनुसन्धानके उपाय ढूंढ़नेके कार्य और कारण कहते हुए 'भूभारेति' तीन श्लोकोंसे 'मानस' कहते हैं:

भूभार-राज-पृतना यदुभिर्निरस्य गुप्तैः स्वबाहुभिरचिन्तयद् अप्रमेयः।
मन्येऽवनेर्ननु गतोऽप्यगतं हि भारं यद् यादवं कुलमहो अविषह्यमास्ते।। ३।।
नैवान्यतः परिभवोऽस्य भवेत् कथञ्चिन् मत्संश्रयस्य विभवोन्नहनस्य नित्यम्।

श्लोकार्थः अपनी भुजाओंसे रक्षित यादवोंसे पृथ्वीके भाररूप राजाओंकी सेनाको कटवाकर, जिसका कर्तव्य(लीला) कोई भी जान नहीं सकता वैसे प्रभुने विचार किया कि, लोग समझते हैं कि पृथ्वीका भार उतर गया, किन्तु मैं यह नहीं मानता हूं कारण कि, जिसके भारको सहन करना अशक्य है

ऐसा यह यदुकुल अब तक वैसाका वैसा ही विद्यमान है।।३।।

व्याख्यार्थः 'भूभार' श्लोकसे भूभारानुसंधान कहते हैं, मुख्योंका(कौरव एवं पूतनादिका) पाण्डवोंने तथा स्वयं प्रभुने नाश किया, अंशोने भी नाश कार्य किया. इसलिए कहा है कि यादवोंने सेनाओंका नाश किया, जरासन्ध, बाण और शाल्यादिकी जो सेना थी वह ही भाररूप थी. उनके नाशकेलिए ही यादवोंका जन्म हुआ है. यादव ही उनके मारनेमें साधन थे. अतः उनको रूपककी तरह अपनेद्वारा रक्षित अपनी भुजाएं कहा है. भगवान् विचार करने लगे कि मैं भार उतारनेकेलिए प्रकट हुआ हूं, वह भार सम्पूर्ण उतरा है या नहीं? भार तो उतरा यह सर्व मानते हैं फिर संशय क्यों? इस पर कहते हैं कि भगवान्की लीलाको कोई समझ नहीं सकता है, क्योंकि 'अप्रमेयः' अप्रमेय है. 'सांश' यादवादि अंशों सहित भगवान् ही भार है इसलिए यह विषय भगवान्के अप्रमेय होनेसे साधारण जनता नहीं समझ सकती है, रक्षाकेलिए आए राजभटोंकी तरह ये(यादव) ही सर्व स्वभक्षक हुवे हैं. इसलिए मैं नहीं मानता हूं कि भार उतरा है.

पूर्व स्थित सहेतुक भारके नाश होने पर भी जो उस भारके निराकरण करनेवाले थे वे ही फिर भारके हेतु रक्षकके स्थान पर भक्षक बननेसे अब भार उपस्थित हैं, अतः आश्चर्य है. यद्यपि इन(यादवों)में उनकी तरह उद्यतपन नहीं है, तो भी बहुतायत होनेसे भाररूप हैं, आगेके(कौरवादिकोंके) भारसे भी यह विशेष हैं जिससे सहा नहीं जाएगा, तथा इस भारका निराकरण देवताओं अथवा पृथ्वीसे भी नहीं हो सकेगा. अतः अब भार है.*।।३।।

* प्रकाशकारः ये यादव भगवान्की भुजाएं हैं. भगवद्रूप होनेसे इसका भार जैसे बाल प्रभुका भार यशोदा मैय्या सहन न कर सकीं वैसे पृथ्वी भी सहन न कर सकेगी.

अन्तःकलिं यदुकुलस्य विधाय वेणु– स्तम्बस्य वह्निमिव शान्तिमुपैमि धाम।।४।।

श्लोकार्थः यह यदुकुल, जो मेरे आश्रयमें स्थित है, जो मेरे ही उच्च पूर्ण सम्बन्धके कारण, नित्य सर्व प्रकारकी धन और जन, बल आदि सम्पत्तिसे परिपूर्ण हो रहा है. उसका परिभव दूसरे किसीसे किसी तरह भी नहीं होगा, चाहे वे देवादि हों या भूमि हो, इसलिए जैसे बांसका वन परस्पर संघर्ष(रगड़)से अग्नि उत्पन्नकर उससे जलकर भस्म हो जाता है, वैसे इसमें कलह उत्पन्न कराऊं, जिससे परस्परके संघर्षसे इनकी भी वैसी दशा हो. यों कर फिर मैं भी अपने शांति धाम(स्वरूप)में स्थिति करूं।।४।।

व्याख्यार्थ: 'नैवान्यतः' श्लोकसे यादवोंके निराकरणका उपाय कहते हैं, यदुकुलका निराकरण स्वतः हो या अन्यसे हो, इनमें अन्य तो दुर्बल है, क्योंकि यदुकुलका भगवान्‌से सम्बन्ध है. इस उच्च सम्बन्धसे यदुकुल सर्व प्रकारसे बलिष्ठ है. इसलिए कोई भी चेतन(देवादि) इसका निरास नहीं कर सकता है. 'एव' पदका यह भावार्थ है कि कभी भी इसका चेतनसे निराकरण नहीं होगा. 'अन्यतः' पदका सामान्य निषेधार्थ है कि यदुकुलके अतिरिक्त किसीसे भी परिभव नहीं होगा. चेतनसे न होगा तो अचेतनसे होगा, फिर सामान्य निषेध कैसे कहा? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि उससे(अचेतनसे) भी नहीं होगा. अचेतन वृष्टयादि(वर्षादि) हैं, जिसके प्रेरक इन्द्र हैं. नाश तो दूर रहा, किन्तु इसका कोई पराभव भी न कर सकेगा. 'कथञ्चित्' पदका स्वारस्य प्रकट करते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि यों भी न समझना कि ये यादव, अपयशके कर्म करनेसे वा गुणाभावसे एवं स्वगत दोषोंसे स्वतः नाश होंगे. 'सम्भावितस्य चाकीर्तिः मरणाद् अतिरिच्यते' सत्पुरुषकी अपकीर्ति मर जानेसे भी विशेष मृत्यु है. क्योंकि इनको मेरा पूर्ण आश्रय है, जिससे इनमें दोषोंकी सम्भावना ही नहीं है, और मेरे साथ सर्व प्रकारसे उठे, बैठे, खाय, सोये और फिरते हैं, अतः इनमें किसी प्रकार कोई अवगुण आ नहीं सकता है, और न इनमें अहंकारादि व गुणाभाव उत्पन्न हो सकेगा. कारण कि, मत्स्वरूप होनेसे लक्ष्मीने इनका त्याग नहीं किया. ये आगे ही वैभवादिसे परिपूर्ण एवं गुणवान् है. जिससे नित्य ही वैसेके वैसे रहेंगे अतः काल भी इसका पराभव न कर सकेगा.

यदि यों है और आपके स्वरूप हैं तो, जैसे हैं वैसे ही इनको वैकुण्ठमें ले जाईए, तो कहते हैं कि नहीं, क्योंकि मेरे स्वरूप होते भी इनमें किञ्चित् प्राकृत सम्बन्ध भी है, जिसका निरास करना है. अतः इसका उपाय करना आवश्यक है. वह उपाय है 'इनमें परस्पर महान् कलह उत्पन्न कराऊं, जिससे जैसे 'वेणुः स्तम्बस्य'(बांसोके बन)में बासोंके आपसके संघर्षण(रगड़)से उत्पन्न अग्नि ही उनको भस्म करती है, वैसे ये भी हों. अनन्तर मैं भी अपने स्वरूपमें स्थितिकर शान्ति पाऊं. भगवदुत्पादित कलि सर्वका नाश करेगा? इस शंकाके निरासकेलिए ही कहा है कि मैं स्वरूपमें स्थितिकर शान्ति पाऊंगा, जिससे वह कलह दूसरोंका नाश नहीं करेगी, यादवोंके प्राकृत सम्बन्धके नाशार्थ कलह ही उपाय है, यों सिद्ध हुआ।।४।।

एवं व्यवसितो बुद्ध्या(/राजन्) सत्यसङ्कल्प ईश्वरः।
शापव्याजेन विप्राणां संजह्रे स्वकुलं विभुः।। ५।।

श्लोकार्थः सत्य-संकल्पवाले ईश्वरने बुद्धिसे ऐसा निश्चय करके, ब्राह्मणोंके शापके बहानेसे अपने कुलको अपने पास खींच लिया।।५।।

व्याख्यार्थः यदुकुलके संहरणकी उत्पत्तिमें हेतु कहते हुए अब 'एवं व्यवसितो' श्लोकसे कार्यका वर्णन करते हैं. इनके संहरणादिका कोई उपाय नहीं है. इसलिए यह उपाय ही निश्चित किया. लोक एवं शास्त्रसे जो उपाय हो सकेंगे उनका निराकरण करनेकेलिए कहा कि यह 'उपाय' भगवान्ने अपनी बुद्धिसे ही उत्पन्न किया है. आप आनन्द मात्र, कर मुखोदरादि हैं. अतः आपकी बुद्धि वा इच्छा शक्ति भी वैसी ही है. प्रचलित पाठमें 'बुद्धि'के स्थान पर 'राजन्' पद है. जिसको ग्रहण करने पर इसका आशय प्रकट करते हैं, कि ब्राह्मणका शाप मिटाया नहीं जाता, जिसका तुम ही अनुभव कर रहे हो, ईश्वरका संकल्प सदैव सत्य होता है 'आप सत्य संकल्प होनेसे अन्यथा न करेंगे'. ईश्वर होनेसे कर्तुं अकर्तुं और अन्यथा कर्तुं समर्थ हैं. जिससे ऋषियोंको यह गर्व न हो कि हमारे शापसे यदुकुलका संहार हो गया. इसलिए प्रभुने उद्धवजी और वज्रनाभादि यादवोंकी शापसे रक्षा कर ली. 'व्याज' पदका भाव बताते हैं कि यह ब्रह्म प्रकरण है अर्थात् यादवोंके संहरणमें भगवान्की इच्छा शक्ति ही कारण है. ब्राह्मण शाप तो केवल मिष है.

यादवोंका नाश नहीं हुआ मात्र अपनेमें उनके स्वरूपको समा लिया है. कुलके साथ 'स्व'के(यादवोंमें जो प्राकृतांश था उसका नाश कराया. अपने अंश स्वरूपोंको अपनेमें समा लिया) पद संयुक्त करनेका आशय बताते हैं कि उनमें कोई दोष 'वेषम्य नैर्घृण्य' नहीं है. श्रीकृष्ण सर्व समर्थ हैं इसलिए अन्तमें 'विभु' विशेषण दिया है।।५।।

आभासार्थः यों मनसे भूभार हरण किया, रूपान्तर स्वीकार करनेका भूभार हरण ही प्रयोजन था. उस कार्यके पूर्ण हो जाने पर दो श्लोकों छठे और सातवेंसे मुक्तिका वर्णन करते हैं, वह मुक्ति एकादश स्कन्धमें जीव तथा ब्रह्म दोनोंकी साथमें ही वर्णित है, इसलिए प्रथम वर्तमान तथा होनेवाले भक्तोंकी मुक्तिका प्रकार भेद कहकर अपने स्वरूपमें स्थितिका प्रकार कहा है:

स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणाम्।

गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः।।६।।

श्लोकार्थः भगवान् प्रकट अवस्थामें अपने अंशरूप जीवोंके जगत्की शोभामें आसक्त नेत्रोंको अपने स्वरूप लावण्यकेद्वारा उन्हें खेंचकर अपनेमें निरूद्ध करते हैं, एवं निज अलौकिक वचनोंसे उनके चित्तको बाह्य प्रपञ्चके स्मरणसे हटाकर अपना ही स्मरण कराके अपनेमें निरुद्ध करते हैं, तथा अपने रमण स्थानोंमें विचरण करनेवालोंका मन अन्य स्थानोंसे आकृष्टकर अपनेमें निरुद्ध करते हैं, इस प्रकार उनकी ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्तिको बाह्य प्रपञ्चसे हटाकर मुक्ति करते हैं।।६।।

आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यञ्जसा नु कौ।
तमोऽनया तरिष्यन्तीत्यगात् स्वं पदम् ईश्वरः।। ७।।

श्लोकार्थः भगवान्ने अपने प्राकट्यकालमें जो जीव विद्यमान थे केवल उनकी मुक्तिका विचार नहीं किया, किन्तु भविष्यमें होनेवाले जीवोंका भी उपाय सिद्धकर पश्चात् निज धाम पधारे, अर्थात् स्वस्वरूपमें स्थिति की. भविष्यमें होनेवाले जीवोंकेलिए अपनी पवित्र तथा बड़े-बड़े महापुरुष भी जिसका गान करें ऐसी कीर्तिका पृथ्वी पर श्रीमद्भागवतद्वारा विस्तार किया, और आज्ञा की, कि, इससे भविष्यकी प्रजा संसारसे छूट मुझे प्राप्त करेगी।।७।।

व्याख्यार्थः आपने स्वरूपसे जीवोंके ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्तिको बाह्य प्रपञ्चसे खेंचकर, एवं यशका विस्तारकर वैकुण्ठ पधारे यों कहा है.

जीवोंके ज्ञानकी स्वाभाविक प्रवृत्ति, बाह्य(बाहरके) और आभ्यन्तर, प्रत्येक भेदसे, 'रूप प्रपञ्च' और 'नाम प्रपञ्च'में चारों तरफसे पूर्णतः स्थिर है. 'नाम प्रपञ्च'में विचारोंकी सहकारिता है, उन विचारोंका निर्धारण चित्तके बिना केवल कर्णोंद्वारा श्रवणसे ही नहीं हो सकता. अतः इसमें अर्थात् विचार करनेमें चित्तकी प्रधानता होनेसे दोनों इन्द्रियां(श्रवण और चित्त) दी गई हैं.

शंकाः जिनको फल लेनेकी इच्छा है, वे योगादि साधनोंसे मुक्ति आदि प्राप्त कर सकते हैं, फिर ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिके खेंच लेनेकी क्या आवश्यक्ता थी? जिसके उत्तरमें निम्न कारिका कही है.

अधिकारश्च मार्गश्च नेश्वरेण विचार्यते।
अन्तःस्थितं यदा ब्रह्म तदा योग उदीर्यते।।
इन्द्रियान्तःप्रवेशार्थं तथा सांख्यं तथापरम्।।कारि.१।।

कारिकार्थ: ईश्वर जब अप्रकट हो तब योगादि साधनोंकी आवश्यकता होती है, इन्द्रियोंको अन्तर्मुख करनेकेलिए साङ्ख्य तथा अपर साधन हैं.

व्याख्यार्थ: भगवान् जब स्वयं प्रकट हैं तब प्रभुको जीवके इन्द्रियादिको 'नाम' और 'रूप' 'प्रपञ्च'से हटाकर अपने निरुद्ध करना ही उचित है. यदि जीवोंकी इन्द्रियां 'नाम' तथा 'रूप' प्रपञ्चमें स्थिर हो तो उनकी मुक्ति नहीं हो सकती, जिनका भगवान्ने स्मरण किया है उनकेलिए ज्ञानादिकी आवश्यक्ता नहीं है, कारण कि भगवान् ही उनके उद्धारकेलिए प्रमेयबलसे स्वयं स्वरूप लावण्यादिसे साधन बन जाते हैं. इस विषयको दृष्टान्तसे समझाते हैं कि जैसे वनमें जाकर जो कोई वृक्षसे काष्ठका छेदन करते हैं(लकड़ी काटते हैं) वह काष्ठ उनकेलिए ही होता है. यदि उनके काम न आवे तो वह लकड़ी यों ही पड़ी रहती है. जैसे पतिव्रता स्त्री उपयोगमें न आवे तब मौन धारण कर लेती है. वन काष्ठछेदनकी तरह जीवोंका संसारसे आच्छेदन(पृथक् होना) भगवन्मूर्तिसे हुआ है. अतः वे जीव भगवत्स्वरूपार्थ ही होते हैं. भगवान् लोकसे तिरोहित हों स्वरूप स्थित हों तो भी भगवत्दृष्टि उन पर ही पड़ती है. क्योंकि वे जीव तो उस समय भी भगवन्मूर्तिके ही सेवा तथा दर्शनमें आसक्त रहते हैं. कदाचित् प्रभु ईश्वर(सर्व समर्थ) होनेसे 'तूष्णीं भाव' धारण करलें(चुप्प साध लेवें) तो भी उन जीवोंसे भगवत्सेवातिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता है. इसलिए उनकी इस प्रकार मुक्ति सिद्ध ही है.

जो भगवान् विषयोंको भी छेदन करनेमें समर्थ हैं, उनको विषयोंके अधीन जीवको खेंच लेनेमें कौनसा प्रयास होगा? कुछ नहीं, यह अलौकिक उपाय है. इसलिए इसमें किसी प्रकारकी शंका नहीं है तथा इसकेलिए गोपीजनोंका दृष्टान्त विद्यमान है. यों इन वर्तमान जीवोंकी मुक्ति भगवान्ने अपने अलौकिक दिव्य स्वरूपादिसे की है. जो मुक्ति इस प्रकार प्रमाण सिद्ध विद्यमान ही है.

आलोक: सूर्य मण्डल, भुवन जननात्मक लोकों, तथा अलोक (अन्धकार) इन सबोंका जो तेजस् संस्थान रचना विशेष एवं श्यामता है, वे धर्म भी, भगवन्मूर्तिके लावण्यके आगे निःसार हो जाते हैं. सारांश यह है कि जब वर्तमान जीव भगवन्मूर्तिके अलौकिक लावण्यके दर्शनका आनन्द लेते हैं, तब सूर्य मण्डलादिके लावण्यकी कुछ भी गणना नहीं रहती है. यहां एक वचन जाति

सूचक है. इस प्रकार रूप प्रपञ्चमें आलोचनकी अपेक्षा नहीं रहती है. क्योंकि भगवत्स्वरूप लावण्यसे ही कार्य सिद्धि हो जाती है. रूप प्रपञ्चसे आसक्ति छूट जाती है, किन्तु नाम प्रपञ्चमें विशेष कहते हैं कि, 'ताः स्मरतां' जो एकसे ही छेदन करे तो 'नाम प्रपञ्च'से आच्छेदन नहीं हो सके. क्योंकि सजातीय प्रतीतिको उत्पन्न करनेसे क्रिया तो लोक और वेदमें सहभाव ज्ञानसे ही आच्छिन्न होती है केवल रूप लावण्यसे नहीं. अतः प्रभु अपने वाक् सुधा वचनोंसे अपनी वाणीको स्मरण करनेवालोंके चित्तको 'नाम प्रपञ्च'से आच्छेदनकर अपनेमें निरुद्ध कर देते हैं. इस प्रकार द्विविध ज्ञानेन्द्रिय,(श्रोत्र एवं चित्त)के छेदनसे कार्य सिद्धि 'रूप' और 'नाम' प्रपञ्चका आच्छेदन होनेसे कार्य सिद्धि हो गई. अर्थात् निरोध हो गया. तो फिर क्रियाके आच्छेदनकी क्या आवश्यक्ता है? इस शंकाका निवारण करते हैं कि, क्रिया तो अन्दर और बाहर, इन्द्रियोंके सहभावरूप ज्ञानसे छेदन होती है. और जो इस प्रकार भगवान्में प्रवृत्त न हो सके, उनकी आवश्यक्ताकेलिए कहते हैं कि प्राणादि साध्य है, जिसका हेतु पिपासादि है, इस प्रकार आच्छेदन कर लिया अन्यथा प्राणोंका तादर्थ्य न होवे. क्रियाका आच्छेदन भगवत्पदरूप वृन्दावनादि तीर्थोंमें निवास करनेसे ही होता है. उत्तर सम्बन्ध तो जीव, जड़ और ब्रह्मके एकतारूप लक्षणवाली मुक्तिकेलिए हैं. एकसे ही तीनोंका(जीव, जड़ और ब्रह्म)का कार्य कैसे सिद्ध होगा? इस शंका निवारणकेलिए कहते हैं कि, भगवान्का यश भी भगवत्स्वरूपके समान है. अतः एक ही भगवद्गुण(यश) गानसे सर्व सिद्धि हो जाती है. यदि ऐसा है तो मुक्तिका वैलक्षण्य कैसे? इस पर कहते हैं कि, काल तथा साधनसे उसमें भेद है. वह कीर्ति सुन्दर गाने योग्य है. कारण कि ज्ञानावतार, महर्षि वेदव्यास कृत है. अतः उसमें प्रवृत्ति अवश्यम्भावी है. एकत्वरूप ज्ञानादि साधनोंके होते हुए कीर्ति(गुणगान) की क्या आवश्यक्ता है? इस शंकाका 'अनायासेन' पदसे निवारण करते हैं कि, ज्ञानादि साधन सिद्ध करनेमें परिश्रम करना पड़ता है. यहां भगवद् यशोगानमें परिश्रम नहीं किन्तु गान करते हुए आनन्द उत्पन्न होता है. पृथ्वी पर यही गुणगान चांदनीकी तरह अन्तःकरणमें आनन्द उत्पन्नकर भगवद्रस पिलाता है. जिससे कार्य सम्पूर्ण सिद्ध हो जाता है. कारण कि, कलियुगमें इसके अतिरिक्त और कोई सरल साधन नहीं है. अन्य युगोंमें ज्ञान, तप आदि उपायोंसे जो फल प्राप्त होता था, वह कलियुगमें हरिकीर्तनसे होता है. जैसा कि कहा है, 'कलौ तद्

हरिकीर्तनात्' 'स्वं पदं अगात्'का आशय है कि वहां ही स्वरूपमें स्थिति करली. 'ईश्वर' पदका स्वारस्य कहते हैं, सब कुछ आप कर सकते हैं, अतः यहां सर्व निर्वाहकेलिए 'ईश्वर' कहा है. प्रथम पक्षमें बीजकी सिद्धि हुई. दूसरे पक्षमें वैराग्य ही बीज है।।६-७।।

आभासार्थ: राजा दो श्लोकोंसे शुकदेवजीसे पूछते हैं कि यादवोंके शापका क्या कारण है?:

राजोवाच

ब्रह्मण्यानां वदान्यानां नित्यं वृद्धोपसेविनाम्।
विप्रशापः कथमभूद् वृष्णीनां कृष्णचेतसाम्।। ८।।

श्लोकार्थ: राजा पूछते हैं कि, हे द्विजश्रेष्ठ! जो ब्राह्मणोंके भक्त न हों, दाता न हों, और वृद्धोंकी सेवा न करते हों उनको तो ब्राह्मण शाप देते हैं. ये यादव तो ब्राह्मण भक्त, उदार(दानी) और सदैव वृद्धोंकी सेवा करनेवाले, उनको ब्राह्मणोंने शाप क्यों दिया?।।८।।

यन्निमित्तः स वै शापो यादृशो द्विजसत्तम।
कथमेकात्मनां भेद एतद् सर्वं वदस्व मे।। ९।।

श्लोकार्थ: जो यादव भगवान्की भांति एवं परस्पर एक आत्मा रूप थे, उनको ऐसा शाप ब्राह्मणोंद्वारा क्यों मिला, जो परस्पर लड़ मरे, यह सर्व वृत्तान्त मुझे कहिए।।९।।

व्याख्यार्थ: बिना पूछे भक्तको कह देना उचित नहीं. अतः राजा पूर्वपक्ष और पक्ष दोनों कहते हैं, उनमें पहले पूर्वपक्ष कहते हैं जो तीन गुणोंको धारण करते हैं और निर्गुण भी हैं, उनको शाप प्राप्ति नहीं होनी चाहिए. क्योंकि, ये चारों गुण शापके विरोधी हैं.

यादवोंमें जो ब्राह्मण भक्ति है, वह सात्त्विक उत्कृष्ट गुण है. जो गुण शापका विरोधी है, वृद्धोंकी सेवा करना उच्च कक्षाका तामस गुण भी इनमें है, जिससे भी इनको शाप नहीं मिलना चाहिए था. इनमें नित्य ब्राह्मण भक्ति, दानार्थ धन एवं परमगहन सेवाधर्म था, तो भी इनको ब्राह्मणोंने शाप कैसे और क्यों दिया? और उनका चित्त सदैव कृष्णमें आसक्त होनेसे ये निर्गुण भी थे, तो इनकेलिए शाप बन ही नहीं सकता. यह सर्वथा असम्भव है. इस प्रकार राजाने पूर्वपक्ष सिद्धकर बताया।।८।।

अब इस 'यन्निमित्तः' श्लोकसे प्रश्न करते हैं. शापका निमित्त तो कोई प्रकट देखनेमें नहीं आता है. बिना किसी निमित्त शाप देना सम्भव नहीं है. ब्राह्मणोंमें वा यादवोंमें दृष्ट तथा अदृष्ट भेदसे कोई निमित्त अवश्य हुआ होगा? यों प्रश्नका प्रकार कहा. यदि कहीं सजातीय होनेसे नहीं करना चाहिए यदि ऐसा हो, इसके उत्तरमें कहते हैं कि, आप भक्ति और ज्ञान सम्पन्न होनेसे ब्राह्मणोत्तम हैं. अतः आपको अवश्य मेरा मनोरथ पूर्ण करना चाहिए.

अदृष्टकी अपेक्षा दृष्ट बलवान् होता है. अतः शाप होनेसे परस्पर एकात्म भाववाले थे, इनका परस्पर युद्ध कैसे हुआ? इस प्रश्नके उत्तरमें जो उपयोगी हो वह सर्व कहना, क्रियाका फल कर्त्तामें जाता है. इसका बोध करानेकेलिए 'वदस्व' आत्मनेपदीकी क्रिया दी है. 'मे' पदका स्वारस्य स्पष्ट करते हुवे आचार्यश्री आज्ञा करते हैं, कि राजाके अन्तःकरणका भाव यह है कि इस कथासे सर्वोपकार न होगा तो भी मेरा सन्देह मिटाकर मेरा ही उपकार कीजिए।।९।।

आभासार्थः कथाकी क्रूरता तथा हेतु बताते हैं:

बादरायणिरुवाच

बिभ्रद् वपुः सकलसुन्दरसन्निवेशं कर्माचरन् भुवि सुमङ्गल आप्तकामः।
आस्थाय धाम रममाण उदारकीर्तिः संहर्तुमैच्छत कुलं स्थितकृत्यशेषः।।१०।।

श्लोकार्थः शुकदेवजीने कहा कि समग्र सौन्दर्यका निधि-रूप स्वरूप धारणकर, एवं सुन्दर मंगल कर्मोंको करते हुवे, आप्तकाम(पूर्णकाम) उदार कीर्ति भगवान् अपने धाम द्वारिका पुरीमें पहुंचकर अपने शरणस्थ भक्तोंमें रमण करते हुवे अपने शेष कार्यका स्मरण कर, कुलके संहारकी इच्छा करने लगे।।१०।।

व्याख्यार्थः 'शुक उवाच' न कहकर 'बादरायणिरुवाच' कहा. जिसका रहस्य प्रकट करते हुवे आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि यह नाम देनेसे कथाकी क्रूरता प्रगट होती है. क्योंकि शुकदेव बादरायणि हैं, अर्थात् आपके पिता कण्टकोंवाले बन्दरोंके पेड़ोंमें निवास करते थे. अतः यह करण क्रूर है तो भी कह दी है. 'ऐच्छत्' क्रियासे कथा कहनेका कारण कह दिया है. शापका निमित्त पहले कह ही दिया है. तो पुनः कहनेकी क्या आवश्यक्ता है? इस पर कहते हैं कि, द्वितीय पक्ष पुष्टिमार्गीय न होनेसे लौकिक दूषणोंके परिहारार्थ कहना ही चाहिए. मर्यादामार्गमें लौकिक दृष्टिसे दूषण दिखाई देते हैं. यह एकादश-स्कन्ध 'मर्यादा-स्कन्ध' है. अतः लौकिक न्यायसे कहते हैं. वह(शाप निमित्त) कहना

आसुरोंको(तच्चासुराणां मोहाय सतामपि च कुत्रचित्) मोह करानेकेलिए है. वहां सत्पुरुषोंको भी हो जाता है ऐसा यह चरित्र है, तथापि इसके श्रवणसे चित्तशुद्धि ज्ञान प्राप्ति होती है. इसलिए शुकदेवजीने यह चरित्र कहा है.

यहां उत्तमाधिकारित्व संहिता(वेद)की अपेक्षासे है, पुष्टिमार्गकी अपेक्षासे नहीं. अतः लोक न्यायसे कहनेमें दोष नहीं. लोकमें जो कुरूपत्व, कर्म करनेमें अशक्ति, आभूषणों धनादिका न होना, काम मनोरथोंकी अपूर्णता, गृहस्थाश्रममें सुखाभाव और अपयश ये छः दोष वैराग्यके कारण होते हैं. वे यहां (भगवान्में) नहीं हैं, जिससे कि कहा जावे कि इनसे वैराग्य हुआ है. भगवान्में तो सर्व प्रकारकी सुन्दरतादि, सुख-कीर्ति, समस्त पूर्णरूपेण सम्पन्न है, फिर अपने कुलके संहरणकी इच्छामें कुछ देव गूह्यता अवश्य है. श्रीसंकर्षण स्वरूपसे शेष कृपाकुल संहरण रहा था. इसलिए ही आपने स्थिति की है।।१०।।

कर्माणि पुण्यनिवहानि सुमङ्गलानि गायज्जगत्कलिमलापहराणि कृत्वा।
कालात्मना निवसता वसुदेवगेहे पिण्डारकं समगमन् मुनयो निसृष्टाः।। ११।।

श्लोकार्थः सम्पूर्ण रीतिसे मंगल करनेवाले, पुण्योंको बढ़ानेवाले और गानेसे जगत्के मलका अपहरण करनेवाले, कर्मोंको, मुनियोंद्वारा, वसुदेवजीसे कराकर कालात्मा प्रभु आप वसुदेवके घरमें बिराजे और कर्म करानेवाले वे मुनि आज्ञा प्राप्तकर पिण्डारक तीर्थ पर गए।।११।।

व्याख्यार्थः लोकमें जो जन्म लेते हैं उन पर तीन ऋण(देव-ऋषि-पितृ ऋण) रहते हैं. उनके उतारनेकेलिए वैसे कर्म करने आवश्यक हैं, जिससे वह उऋण हो जावें. अतः अनिरुद्धांश प्रकटकर यज्ञ हेतु ब्राह्मणोंको बुलवाकर, उनकेद्वारा नित्य, काम्य और प्रायश्चित कर्म कराकर आविर्भूत अनिरुद्धांशका तिरोहनकर एवं अपने स्थान द्वारकाका भी त्यागकर वसुदेवके घर जाकर निवास किया.

वैषम्य एवं नैर्घृण्य दोषोंके परिहार-हेतु कुलमें अधर्म(जिसकेद्वारा संहार होता है वह) सरल रीतिसे इनमें प्रवेश करें. तदर्थ वसुदेवके[१] घरमें निवासकर संहार केलिए संकर्षणांशका आविर्भावकर, भगवान्ने ब्राह्मणोंमें अपनी बुद्धि (इच्छा) तथा स्वरूपको स्थापित किया, और ब्राह्मणोंको पिण्डारक तीर्थ पर विधिपूर्वक भेजा.

१. वसुदेव कश्यपरूप होनेसे प्रजापति हैं. अतः यहां स्थिति करनेसे सर्वत्र प्रवेशका सौकर्य हो.

''यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त'' इस श्रुत्यनुसार विधिपूर्वक कार्य करनेसे धर्म, सम्पदा ही बढ़ती है, सदैव पशु, पुत्र और आरोग्यको सिद्ध करनेवाले शुभ कर्म होते ही रहते हैं. ये सब कर्म भगवान्ने लोक शिक्षार्थ ही किए हैं, जिससे इन कर्मोंके गान करनेवाले लोगोंके सब पापादि दोष निवृत्त हो जाते हैं. जो पाप प्रायश्चित्तद्वारा नहीं समाप्त होते वे भी इनके गान करनेसे सम्पूर्ण नष्ट हो जाते हैं.

ब्राह्मणोंका तीर्थ पर जाना इच्छा-परक होनेसे कार्य सिद्ध हुआ.

ब्राह्मण, यादव, देश और कालमें संकर्षणांश प्रविष्ट हो गया. इस कारण कोई दूषण नहीं।।११।।

आभासार्थ: जिन ब्राह्मणोंको यज्ञादिकेलिए बुलाया था, तथा जिनका यज्ञमें उपयोग हुआ उन दसोंकी सदस्य सहित गणना करते हैं:

विश्वामित्रोऽसितः कण्वो दुर्वासा भृगुरङ्गिराः।
कश्यपो वामदेवोऽत्रिर्वसिष्ठो नारदादयः।।१२।।

श्लोकार्थ: विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अंगिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि, वशिष्ट और नारदादि ऋषि थे. जो भगवदिच्छा पूर्त्यर्थ पिण्डारक तीर्थ पर जाकर निवास करने लगे।।१२।।

व्याख्यार्थ: इन ऋषियोंका यज्ञ विशेषमें उपयोग किया गया था. अतः इनके नामोंकी सदस्य सहित गणना की है।।१२।।

क्रीडन्तस्तानुपव्रज्य कुमारा यदुनन्दनाः।
उपसंगृह्य पप्रच्छुरविनीता विनीतवत्।।१३।।

श्लोकार्थ: वहां उच्छृंखल यादव कुमार मिलकर खेलते हुवे इन ऋषियोंके पास आकर नम्रतासे पूछने लगे।।१३।।

व्याख्यार्थ: कालके आवेशवाले यादव, भगवदिच्छा पूर्ण करने हेतु, ब्राह्मणोंकी अवज्ञा करने लगे. इस प्रकार उद्देश, प्रकार और वञ्चना इन श्लोकोंसे कहते हैं, इनमें प्रथम उद्देश कहते हैं. 'क्रीडन्तः' इस पदसे राजस गुणका आवेश प्रकट किया है. 'तान् उपव्रज्य'(उनके समीप जाकर) इस पदसे उनकी धृष्टता दिखाई है. 'कुमाराः' पद देनेका भाव यह है कि दीर्घ दृष्टि(सूक्ष्म दृष्टि)वाले नहीं हैं. इस कार्यके करनेका परिणाम क्या होगा इससे अनभिज्ञ थे. 'यदुनन्दनः' पदका आशय यह है कि जो कर्म ये करना चाहते थे, उसमें बडोंकी सम्मति नहीं ली थी. वे सब मिलकर ब्राह्मणोंको प्रणाम करने लगे. यह कार्य

इनकी सात्त्विकता प्रकट करता है. 'अविनीता' 'उच्छृंखलता' इससे तामसपन प्रकट होता है. पुरुषको स्त्री-वेषमें ले जाना, यह जो आकारकी गुप्तता की, इसमें भगवदाविष्ट ब्रह्मतेज ही करण है।।१३।।

ते वेषयित्वा स्त्रीवेषैः साम्बं जाम्बवतीसुतम्।
एषा पृच्छति वो विप्रा अन्तर्वत्न्यसितेक्षणा।। १४।।

श्लोकार्थः हे ब्राह्मणों! आप विप्र होनेसे जिज्ञासुओंकी इच्छा पूर्ण करनेवाले हैं. अतः श्याम नेत्रवाली यह गर्भवती स्त्री आपसे पूछती है कि (वास्तवमें, वह स्त्री नहीं थी. इन यादव कुमारोंने जाम्बवतीके पुत्र साम्बको स्त्रीका वेष पहनाकर झूठा उदर बढ़ाकर ऋषियोंको छलना चाहा था)।।१४।।

व्याख्यार्थः धनेच्छुक ब्राह्मण कामुक होते हैं. अतः स्त्रीद्वारा उनको ठगना व उनका तिरस्कार करना चाहा. अन्य पुराणमें इस प्रकार कहा है कि पार्वती सहित महादेवने साम्बमें आकर प्रवेश किया है, इससे वह बताया है महादेवजी संहार कर्ता हैं. अतः साम्ब इस संहार कार्यमें साधन बना. 'जाम्बवती सुतं' कहकर साम्बका भोलापन(बालपन) भी प्रकट किया. जिसने स्त्री बनना स्वीकार कर लिया।।१४।।

प्रष्टुं विलज्जती साक्षात् प्रब्रूतामोघदर्शनाः।
प्रसोष्यन्ती पुत्रकामा किंस्वित् सञ्जनयिष्यति।।१५।।

श्लोकार्थः स्वयं पूछनेसे लजाती है. अतः हमारेद्वारा पूछती है. आपके दर्शन कभी निष्फल नहीं होते हैं. अतः कृपया बताइए कि यह पुत्र कामनावाली क्या उत्पन्न करेगी?।।१५।।

व्याख्यार्थः इस श्लोकमें मुनियोंको छलनेका प्रकार कहा है- साक्षात् स्वयं पूछनेमें शरमाती है. अतः हमसे पूछवाती है कि 'क्या उत्पन्न करेगी?' कहिए. यह प्रार्थना हम करते हैं. क्योंकि आपके दर्शन निष्फल नहीं जाते हैं. दोनोंमें आपके उत्तर सुननेकी उत्सुकता है. विशेष भाव स्पष्ट है।।१५।।

आभासार्थः संकर्षणरूप कृष्णके आदेशवाले मुनियोंने निमित्ताभासको लेकर कुपित हो यदु-कुमारोंको श्राप दिया. इस प्रकार इस श्लोकमें कहते हैं:

एवं प्रलब्धा मुनयः तान् ऊचुः कुपिता नृप।
जनयिष्यति वो मन्दा मुसलं कुलनाशनम्।। १६।।

श्लोकार्थः हे राजन्! उन यादव बालकोंसे वक्रोतिद्वारा अपमानित व ठगे

हुवे मुनि लोग उनको कहने लगे कि हे मूर्खों! यह तुम्हारे कुलका नाश करनेवाले मूसलको पैदा करेगी।।१६।।

व्याख्यार्थ: इस प्रकार परीक्षारूप वक्रोतिसे ठगे हुवे मुनि अर्थात् जो मननशील थे और यह मननशीलता वृत्तान्त ज्ञानमें हेतु है. नहीं तो, अल्प अपराधमें अधिक दण्ड देना अनुचित था. उनके अल्पकर्त्तापनमें भी भगवदीय विषयपन होनेसे 'दण्ड' कहा अथवा इससे मुनियोंका दर्प प्रकट हुआ. 'मुनि' कुपित होवे जिससे अभिमान पूर्वक श्राप दिया. इससे यह बताया है कि मुनियोंने विभूतिरूप होनेसे इस प्रकार किया अर्थात् शाप दिया, कि तुम्हारे कुलका नाशक मूसल पैदा करेगी. नित्य सापेक्ष होनेसे असमर्थ समास है. कोपावेशके कारण अज्ञानका प्रवेश होनेसे यादव कुमारोंको 'मन्दाः' यह विशेषण देकर कहा कि तुम बुद्धिहीन हो. कोपके प्रभावमें 'अमन्दाः' आपने हास्य किया है. क्योंकि उन लोगोंको शीघ्रता थी. 'तामसात् राजसोऽयमिति विशेषः' अज्ञानसे प्रवेशकी अपेक्षा यह शीघ्रत्वका विचार, कोप सजातीय होनेसे विशेष है. व्रीहिकी(चावल) तरह अल्प यह. अतः यह 'मुसल' अवघात जनक होनेसे 'फलयार्कषयन्तम् अत्ता चराचरग्रहणात्' इस श्रोतन्यायसे भगवान्के भोजनके साधन बनेगा. इस मूसलका स्वभाव सिद्ध कार्य होगा कि यादवोंके कुलका नाश करना. 'व्रीहि' मात्रका यथावघात हेतु है. यह होने पर समास दोष नहीं. महत्त्वमें फलवद्भोग होवे. मन्द होनेसे ओदन भावसे, इस प्रकार विशेष है. 'मन्दाः' यह सम्बोधन भाव न जाननेवाले हैं. यह बतानेकेलिए कहा है. इसलिए ही उद्धवजीकी पश्चात्ताप पूर्वक यादवोंकी[१] निन्दा करनी बन सकती है अंशसे तो उसको भी मूसल विषयमें अज्ञान था. दाहादिसम्भावनासे अयस्मयत्व(लोहादि) होते हुए भी नहीं कहा, दर्शनसे जाना जा सकता है. इसीसे यज्ञ पुरुषके आयुध विशेषरूप मूसलकी उत्पत्ति ज्ञापक वचन श्राप है. यह सिद्ध हुआ।।१६।।

१. दुर्भगा बत लोकोऽयं सुतराम् यदेवोऽपि हि. ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इबोडुपम्.

आभासार्थ: सात श्लोकोंसे आगेकी कथा कहते हैं, जिसमें पहले इस 'तच्छ्रुत्वा' श्लोकसे शापार्थदर्शन कहते हैं:

तच्छ्रुत्वा तेऽतिसन्त्रस्ता विमुच्य सहसोदरम्।
साम्बस्य ददृशुस्तस्मिन् मुसलं खल्वयस्मयम्।। १७।।

श्लोकार्थ: मुनियोंके शापके वचन सुनकर वे यदुकुमार अत्यन्त भयभीत

हुवे. शीघ्र ही साम्बके उदर पर लपेटे हुवे वस्त्र जिनसे साम्ब गर्भवती देखनेमें आता था, उसे खोल दिया, तो उस उदरमें लोहका मूसल देखनेमें आया।।१७।।

व्याख्यार्थ: मुनियोंके दिए हुवे शापका अर्थ मूसलरूपसे प्रकट दर्शन देने लगा. जिसके दर्शनसे १. उनका डरना २. मूसलको घर लेजाना ३. राजाको बताना ४. लोकभय ५. उसके निराकरणकेलिए मूसलका नाश ६-७. अंशांशिके विपत्ति योगकेलिए उसकी दो रूपोंमें स्थिति होना आदि. उनमेंसे प्रथम, शापके अर्थका दर्शन हुआ. जिसका वर्णन इस श्लोकमें हुआ है. कार्य हो जाने पर अर्थात् श्रापके मूसलकी उत्पत्ति हो जाने पर, संकर्षणावेशके प्रकट हो जानेसे, अब सर्वनाश होगा. इस तरह जान अत्यधिक भय उत्पन्न होने लगे. ब्राह्मणोंको स्वल्प अपराध पर महादण्ड दिए जाने पर भी पश्चात्ताप क्यों न हुआ. इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'ज्ञापकत्वात्' ब्राह्मण, पूर्वसे ही, भगवान्की इच्छा ही ऐसी है ऐसा जानते हैं. इसलिए उनको पश्चात्ताप न हुआ. उनके वाक्योंमें प्रमाणिकता निश्चित थी. संवादसे पहले ही भयकी उत्पत्ति होने लगी. मूसल जड़ होनेसे मरे हुवेकी तरह वस्त्रोंको खोलते ही मूसलको देखने लगे. वस्त्रोंसे लपेटे उदरमें आकाश उत्पन्न हो गया अर्थात् मूसलकी जितना वहां पोल(स्थान) होगा. जिससे साम्बके उदरकी नाभिसे वह लोहमय मूसल उत्पन्न हुआ. देखा. यदि इस तरह न होता तो, 'जनिष्यति' यह वचन असत्य होता. शब्द आकृतिके वचनोंको कहते हैं. अतः लोहमयपन भी मूसल है. दाहादिके प्रतिकारके निराकरणकेलिए ऐसा कहा है. उत्तरोत्तर प्रत्येक श्लोकका कहना भगवदावेशसे हुआ है. 'अयसो मृत्युरूपत्वम्' लोहमृत्यु रूप है. 'सीसेनक्लीबात्' वहां इसका निर्णय किया हुआ है।।१७।।

किं कृतं मन्दभाग्यैर्नः किं वदिष्यन्ति नो जनाः।
इति विह्वलिता गेहान् आदाय मुसलं ययुः।। १८।।

श्लोकार्थ: तब वे कुमार परस्पर कहने लगे कि मन्दभागी हमने यह कैसा मूर्खतापूर्ण कार्य किया? लोग क्या कहेंगे? इस प्रकार विह्वल हुवे अनुचित होते हुए भी मूसलको घर ले गए।।१८।।

व्याख्यार्थ: कुमारोंका मूसल घर ले जाना उचित नहीं था तथापि वे ले गए. इसका कारण ईश्वरेच्छा ऐसी थी. दृष्टके प्रकारके अभावसे ऐसा जाना जाता है कि भाग्यने ही ये करवाया अथवा ये वचन उनके हैं जो प्रथम साक्षीकी भांति वहां उपस्थित थे, हम मन्दभाग्यवालोंने यह क्या किया? भगवान्के साथ बाहर

स्थिति करना उत्तम है, कि अव्यक्त(अक्षर वा प्रकृति)में स्थिति श्रेष्ठ है. अतः हमारी मूर्खता है. लोकापवाद(निन्दा) भी अत्यधिक होगा. इससे बहुत विह्वल होने लगे. कर्त्तव्यताका पूर्ण ज्ञान न रहा, जिससे प्रत्येक गृहोंमें जाकर दिखाने लगे और आश्चर्य प्रकट करते हुवे कहने लगे कि देखिए! हमारी मूर्खतासे यह क्या पैदा हो गया? कुछ समय घरोंमें भ्रमणकर तत्पश्चात् सभामें राजाके समीप ले गए।।१८।।

तञ्चोपनीय सदसि परिम्लानमुखश्रियः।
राज्ञ आवेदयाञ्चक्रुः सर्वयादवसन्निधौ।।१९।।

श्लोकार्थः मुखकी मलिन श्रीवाले वे कुमार, मूसलको सभामें ले जाकर, सब यादवोंकी सन्निधिमें राजा उग्रसेनको सर्व वृत्तान्त सुनाने लगे।।१९।।

व्याख्यार्थः शास्त्रोंमें कहा है कि कुलकी रक्षा हेतु 'त्यजेदेकं' एक वस्तुका त्याग कर देना चाहिए. इन यदुकुमारोंको कुलकी रक्षार्थ अपकीर्तिका भय छोड़ देना योग्य था अथवा मूसलका त्याग कर देना था. नहीं तो, वह सब भगवान्को बता देना था. इन तीनोंमेंसे एक भी नकर राजासे निवेदन किया, इसका आशय प्रकट करते हैं कि इस मूसल प्रकट करनेमें साम्ब कारण था. इस भयसे भगवान् श्रीकृष्णको कुछ भी नहीं कहा. न्याय करनेवाली राजसभा है इसलिए वहां कहना चाहिए अन्यथा राजा दण्ड देंगे इसलिए भी उनके मुखकी श्री मलीन हो गई थी. राजसभामें उग्रसेन भी यादवों सहित विराजते हैं. अतः इस प्रकार राजाके समीप जाकर निवेदन करनेसे सबको ज्ञात हो जाएगा. ऐसा करनेसे सबको वैराग्य उत्पन्न होगा.

परम कृपालु भगवान् एक कार्यसे अनेक कार्योंकी सिद्धि करते हैं, इस प्रकार अपने अवतीर्णांशोंको सायुज्य वा ब्रह्मभाव देना चाहिए. इस इच्छासे ऐसी लीला करवाई है।।१९।।

श्रुत्वामोघं विप्रशापं दृष्ट्वा च मुसलं नृप!।
विस्मिता भयसन्त्रस्ता बभूवुर्द्वारकौकसः।। २०।।

श्लोकार्थः हे महाराज! ब्राह्मणोंका अमोघ श्राप सुनकर और श्रापरूप मूसलको प्रत्यक्ष देखकर द्वारकावासी भयभीत हुवे एवं आश्चर्यमें पड़ गए कि 'यह क्या हुआ'?।।२०।।

व्याख्यार्थः श्रापरूप उत्पन्न मूसलका अन्यथा भाव नहीं हो सकता,

यद्यपि भगवान् गुरु तथा गति हैं, तथापि यादवोंने ज्ञानोपासनाद्वारा उस गन्तव्य स्थानकी प्राप्तिकेलिए कुछ भी प्रयत्न नहीं किया, अपितु समस्त भयभीत हो गए.

श्रापानुसार मूसल उत्पन्न हुआ एवं तदनुसार ब्राह्मण-वाक्य भी सुने, तथापि उनमें ज्ञानका प्रादुर्भाव नहीं हुआ, अर्थात् उनको ऐसी शुभ बुद्धि न आई कि प्रभु श्रीकृष्ण जो संकट-हर्ता गति हैं उनकी शरणमें जाए. किन्तु केवल आश्चर्य रसमें मग्न हो गए. संदिग्ध दशामें भी रहनेसे भयोत्पन्न होता है. 'द्वारकौकसः' पदसे यह भाव प्रकट किया है, 'द्वारका' मुक्ति द्वार है अतः वहां रहनेसे देश दोषका अभाव है. ऐसा होते हुवे भी किसीको भी श्रीकृष्णचन्द्रसे अलौकिक फल प्राप्त करनेकी इच्छा न हुई. प्रत्युत उनको ऐसी लौकिक बुद्धि उत्पन्न हुई कि मूसलको चूर्णकर समुद्रमें फेंकनेसे शाप निवृत्त हो जाएगा।।२०।।

तं(/तद्) चूर्णयित्वा मुसलं यदुराजः सआहुकः।
मुद्रसलिले प्रास्यद् लोहं चास्यावशेषितम्।।२१।।

श्लोकार्थः वृद्ध पिता आहुककी सम्मति लेकर यदुराज उग्रसेनने भगवान् श्रीकृष्णसे पूछनेके बदले मूसलको घिसकर चूर्ण करवा डाला. और उस चूर्णको समुद्रके क्षार-जलमें इसलिए डलवा दिया कि यह वहां गलकर नष्ट हो जाएगा, शेष बचे टूकडोंको भी समुद्रमें फेंकवा दिया।।२१।।

व्याख्यार्थः राजा उग्रसेनने इस प्रकार लौकिक उपाय किया, वह मुसल जो चूर्णरूप करवा दिया, उस समग्रको वृद्ध आहुककी सम्मतिसे समुद्रके क्षार-जलमें फेंकवा दिया जिससे क्षार-जल इस चूर्णको गला देगा जो अंश चूर्ण न हुआ उन अवशेषोंको भी समुद्रमें डलवा दिया इस लौकिक उपायसे कुछ भी सिद्धि न हुई अपितु विपरीत फल हुआ।।२१।।

कश्चित् मत्स्योग्रसीद् लोहं चूर्णानि तरलैस्ततः।
उद्यमानानि वेलायां लग्नान्यासन् किलैरकाः।।२२।।

श्लोकार्थः इन अवशिष्ट लोहेके टुकड़ोंको तो कोई मत्स्य निगल गया, जो चूर्ण था, वह जलसे खिंचता-खिंचता समुद्र तट पर आ गया उसमेंसे एरक जातिकी घांसकी उत्पत्ति हुई।।२२।।

व्याख्यार्थः ब्राह्मणोंके वचनसे उत्पन्न श्रापरूप मुसलका चूर्ण गलकर समुद्रमें डूब नहीं सकता. शेष बचा हुआ लोहेका टुकड़ा तो भविष्यके कार्य हेतु सिद्ध्यर्थ था इसलिए वह भी मत्स्य-उदरमें गला नहीं. यादवोंमें ज्ञान नहीं था,

इसी कारण ऐसा लौकिक उपाय किया, जो व्यर्थ ही हुआ, जिस तृणमें किसी प्रकार सत्त्व नहीं ऐरका नामकी घांस चूर्णसे उत्पन्न हुई, जिससे कट बनाये जाते हैं. किनारे पर लगी होनेसे बालुकामें बिना मूलके वह घांस होती है. ऐरका घांसकी लौकिकी उत्पत्तिके समान उत्पत्ति हुई. ऋषियोंमें इस घांसकी बहुत प्रसिद्धि है. चूर्णोंका जब तक उपयोग हुआ तब तक विनियोग कहना चाहिए।।२२।।

मत्स्यो गृहीतो मत्स्यघ्नैर्जालेनान्यैः सहार्णवे।
तस्योदरगतं लोहं स शल्ये लुब्धकोऽकरोत्।।२३।।

श्लोकार्थः मछआरोंने समुद्रमें जाल डालकर अन्य मछलियोंके साथ उस मच्छको भी जालमें पकड़ लिया. उसको चीरने पर उदरसे लोहमय टुकडा निकल आया, जिससे व्याधने अपने तीरकी अनी बना ली।।२३।।

व्याख्यार्थः इस श्लोकमें कहते हैं कि तथावत् उसका भी विनियोग हुआ. वह लोहमय टुकड़ा काल-कन्यारूप होनेसे नाशार्थ ही जरारूप प्रकट हुई है. काल संकर्षणांशका आसनरूप होनेसे स्वरूपकी स्थिति हेतु काल-कन्याने कालको यह(व्याध) आसन दिया है. आवेश निकल जाने पर व्याधको पश्चात्ताप हुआ शेष स्पष्ट है।।२३।।

भगवान् ज्ञातसर्वार्थ ईश्वरोऽपि तदन्यथा।
कर्तुं नैच्छद् विप्रशापं कालरूप्यन्वमोदत।।२४।।

श्लोकार्थः भगवान् सर्वज्ञ हैं तथा श्राप नाशमें समर्थ हैं तथापि ब्राह्मणके श्रापकी नाशेच्छा नहीं की, क्योंकि इस समय आप कालरूप थे. अतः उस श्रापका अनुमोदन ही किया।।२४।।

व्याख्यार्थः उपर कहा जा चुका है कि सर्व चरित्र भगवान्का ही है. उपसंहारमें उसीको दृढ़ करते हैं. आप श्रीकृष्ण भगवान् हैं, अर्थात् षड्धर्म-संयुक्त होनेसे पूर्ण हैं, जिससे अखिल कर्त्ता आप ही हैं, इससे यह सिद्ध हुआ. यह समस्त भगवच्चरित्र ही है. यादवोंको लौकिक रीतिसे परिहार बुद्धि हुई वह अज्ञानद्वारा नहीं अपितु संकर्षणत्वने ही ऐसी बुद्धि उत्पन्न की. यह साम्बका अपराधी होनेसे भयके कारण किसीने भी भगवान्को निवेदन नहीं किया, तथापि भगवान् तो सर्वज्ञ हैं. वे यादव यदि उद्धवकी भांति मोक्षार्थ प्रार्थना करते तो प्रभु अन्यथा भी कर सकते थे. समझ लो, उन्होंने प्रार्थना न भी की तो भी आपने ये

अपने हैं, ऐसा समझकर क्यों नहीं श्राप निवारण किया? इस पर कहते हैं कि ''विप्र शापं अन्यथा कर्त्तुं न ऐच्छत्'' भगवान् ब्राह्मण-श्रापको अन्यथा नहीं करना चाहते थे, क्योंकि, आपने कालरूप होनेसे उसका अनुमोदन ही किया. आप ईश्वर हैं अतः आपकी इच्छासे सेवकोंने जो कार्य किया, वह विधेयरूप ही है, अन्यथा 'ईश्वर' पद व्यर्थ हो जावे. सेवक जो कार्य करता है, उसका जब स्वामी अनुमोदन करता है, तब वह कार्य दृढ़ हो जाता है. इससे यह सिद्ध हुआ कि वैराग्यार्थ उपाय रचा है।।२४।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण एकादश स्कन्धके प्रथम अध्यायकी श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी(संस्कृत टीका) के जीव मुक्ति(ब्रह्मभाव) प्रकरणका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय २

वसुदेवजीके पास नारदजीका आना और उन्हें राजा जनक तथा नौ योगीश्वरोंका संवाद सुनाना

श्रीशुक उवाच

गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह।
अवात्सीत् नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः।। १।।

श्लोकार्थ: श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि,हे कुरुद्वह! नारदजी कृष्णकी लालसावाले थे, अतः गोविन्द भगवान्की भुजाओंसे रक्षित द्वारकापुरीमें निरंतर निवास करने लगे, क्योंकि वहां दक्षसे प्राप्त शाप नारदजीको स्पर्श नहीं कर सकता था, जिससे निर्भय निर्विघ्नतासे भगवदाश्रित हो भजन करने लगे।।१।।

वैराग्यहेतौ संसिद्धे हृदये रागसम्भवात्।
आन्तरस्य बलिष्ठत्वाद् न वैराग्यं फलिष्यति।।कारि.१।।

कारिकार्थ: वैराग्यका हेतु सिद्ध हो, किन्तु यदि हृदयमें रागके उत्पन्न होनेकी सम्भावना हो जावे तो, वह वैराग्य, फलदायी नहीं होता है, क्योंकि अन्तःकरण बलिष्ठ है, अतः प्रथम अन्तःकरणको ही शुद्ध बलवान् बनानेकी आवश्यक्ता है, जिससे उसमें रागकी सम्भावना ही न होवे, ऐसा होने पर ही जीव बिना रुकावट मुक्ति प्राप्त कर सकता है।।१।।

पूर्वं गुरुस्तथा शास्त्रं वक्तव्यं मुक्तिहेतवे।
गुरुर्हरिर्भक्तिमार्गसेवको विहितो महान्।।कारि.२।।
भगवद्वचनं शास्त्रंसेवकानां तुसेवके।
प्रपन्न एवाधिकारी शास्त्रमार्गेण यो भवेत्।।कारि.३।।

कारिकार्थ: इसीलिए मुक्ति प्राप्त्यर्थ सर्व प्रथम गुरु, अधिकारी तथा शास्त्र कहने चाहिए, इस प्रसंगमें दो प्रकारके अधिकारी हैं, एक उद्धवजी, दूसरे वसुदेवजी. उनके अधिकारानुसार गुरु भी दो प्रकारके हैं. उद्धवजी महान् हैं अतः उनके गुरु तो हरि ही हैं, और वसुदेवजीके गुरु भगवत्सेवक नारदजी हैं, भगवत्सेवकोंका जो सेवक है, उनकेलिए भगवद्वचन ही शास्त्र(प्रमाण) है. वहां वे ही अधिकारी हैं जो शास्त्रानुसार शरणागत हुए हैं।।२-३।।

केवलेन निरोधेन निरुद्धा ये न ते तथा।

ज्ञानेन सहितौ तस्माद् वसुदेवोद्धवौ मतौ।।कारि.४।।
वसुदेवस्य संसिद्धं बीजं च ज्ञानकर्मणी।
शास्त्रेणाचार्यरहित्यात् न ज्ञानं फलति स्फुटम्।।कारि.५।।

कारिकार्थ: जो(गोपीजन) केवल भगवत्प्रमेयबलद्वारा निरोधसे निरुद्ध हुई हैं, वे अन्य प्रकारके अधिकारी हैं, इसीलिए वसुदेवजी तथा उद्धवजी ज्ञानद्वारा संसार विरत हो भक्त(निरुद्ध) हुवे हैं. वसुदेवजीका बीज, ज्ञान एवं कर्म द्वारा फलित हुआ है. जब तक गुरुकी प्राप्ति नहीं होती है अर्थात् जीव गुरु प्रपत्ति ग्रहण नहीं करता है केवल शास्त्राधार एवं बुद्धिबलसे ज्ञानफल प्राप्ति चाहता है तो उसमें ज्ञानफल स्फुट उत्पन्न नहीं होता है।।४-५।।

उद्धवस्य प्रपत्तिस्तु महती लौकिकत्वतः।
गोपिकाज्ञानसन्देशः तस्या एव तु पोषकः।।कारि.६।।
निरोधः दुदृढः कृष्णे ममतासहितो महान्।
मतोऽत्र वसुदेवस्य ममतानाशनं यथा।।
अहन्ता तूद्धवस्यापि यथा नश्येत् तथा कथा।।कारि.७।।

कारिकार्थः उद्धवजीकी शरणागति महती होने पर भी लौकिक थी, कारण, उस शरणागतिका पोषक वह सन्देश था जो भगवान्ने उद्धवजीद्वारा गोपिकाओंको भेजा था. यह परार्थ होनेके कारण उद्धवजीको यहां ११ वें स्कन्धमें पुनः उसके दृढ़ार्थ उपदेश दिया गया है जो आवश्यक था. इस प्रकार इस स्कन्धमें वसुदेवजीकी ममता नाश हो तथा उद्धवजीका अहम्भाव(मैं बड़ा ज्ञानी हूं इत्यादि) नाश हो, तदर्थ वैसी कथा कही है, जिससे उनका भगवान्में सुदृढ़ निरोध सिद्ध हुआ है।।७।।

व्याख्यार्थ: भगवान् कृष्णने वसुदेवजीको प्रथम ज्ञानोपदेश दिया था किन्तु वसुदेवजीकी भगवान्में भगवत्व तथा गुरुत्व भावना नहीं थी, क्योंकि वह श्रीकृष्णको अपना पुत्र समझ बैठे थे और वसुदेवजीकी वह पुत्र ममता दृढ़ थी जिससे कृष्णोपदिष्ट ज्ञान वसुदेवजीमें फलीभूत नहीं हुआ. भगवान्की वसुदेवजीको सायुज्यमुक्ति देनेकी पूर्ण इच्छा थी. अतः भगवान्ने निश्चय किया कि वसुदेवजीका गुरु नारदजीको बनाऊं, कारण कि, नारदजी जीवोंकी अविद्या नाश करनेमें प्रवीण हैं और नारदजी अब उस पवित्र द्वारकापुरीमें आकर रहे हैं, जहां बुद्धिको आसुरी बनानेवाले दैत्य प्रवेश नहीं कर सकते हैं, यों तो बाह्य

आभ्यन्तर भेदसे दैत्य ऐसा क्षोभ करते हैं, जो भगवान्के प्रकट विराजते हुए भी आध्यात्मिक दैत्य हृदयमें विद्यमान होनेसे उनकी सेवा करने नहीं देते हैं. इस प्रकार कृष्णसेवामें बहुत विघ्न आते हैं, द्वारकामें दैत्योंके प्रवेश न हो सकनेका कारण यह है कि द्वारकाकी रक्षा भगवान् अपनी भुजाओंसे(यादवोंसे) कर रहे हैं, यह द्वारका भगवन्निर्गमनस्थान होनेसे स्वाभाविक है कि यहां दैत्योंके निवासका अभाव है, अर्थात् दैत्य रह नहीं सकते हैं. 'नारद' शब्दका तात्पर्य है कि जीवभावको हटाकर ब्रह्मभाव प्राप्त करना. 'कुरूद्वह' इस सम्बोधन देनेका आशय है कि नारद पदके अर्थमें आपका विश्वास है. 'अभीक्ष्णं' पदका भावार्थ प्रकट करते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि नारदजीमें भगवान् कृष्णके दर्शनकी दृढ़ लालसा थी, इसीलिए कभी वैकुण्ठमें जाते तो कभी उनके हृदयमें प्रकट हो जाते, नारदजीको जो दक्षका शाप था वह भी द्वारकामें स्पर्श नहीं कर सकता था, यों कहनेका भावार्थ यह है कि जैसे नारदजी कृष्णका आश्रय ले सेवादि करते थे, यों यदि यादव भी करते तो शापसे मुक्त हो जाते, यादवोंने ऐसा नहीं किया, जिसका कारण है कि भगवत्सेवा देवादिको भी दुर्लभ है, एवं सर्व अनर्थोंको नाश करनेवाली है, न केवल इतनी महत्ता है किन्तु जो मुक्त हुवे हैं वे भी चाहते हैं कि हमको भगवत्सेवा कब प्राप्त होगी? उसकेलिए सदैव लालायित रहते हैं, मात्र इसलिए प्रकरणके आरम्भमें मोक्षसे समानता बताई है. नारदत्वको प्राप्त नारदकेलिए क्रममुक्ति नियत होनेसे तथा स्वतः फलत्व आदिका अभाव होनेसे प्रेक्षावान्को कैसे भगवत्सेवाकी लालसा हुई? इस शंका निवृत्त्यर्थ आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि नारदजी यों समझते थे कि यद्यपि मुझे मुक्ति प्राप्त होगी उसमें सन्देह नहीं है, किन्तु मुक्तिमें इन्द्रियोंकी सार्थकता नहीं होती है, इन्द्रियोंका होना निरर्थक हो जाता है, अतः नारदजीने इन्द्रियोंकी सार्थकताकेलिए भगवत्सेवाकी लालसा की है, अधिकार होते हुए कार्य करना इन्द्रियोंका मुख्य फल नहीं है, मुख्यफल तो भगवत्सेवा ही है जिसमें इन्द्रियोंकी सफलता है।।१।।

आभासार्थः शुकदेवजी इस विषयको दूसरे श्लोकमें दृढ़ करते हैं:

को नु राजन्! इन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम्।
न भजेत् सर्वतोमृत्युः उपास्यम् अमरोत्तमैः।। २।।

श्लोकार्थः हे राजन्! कौन ऐसा है जो इन्द्रियोंवाला चारों तरफसे मृत्युसे घिरा हुआ होते हुए भी, मुकुन्द भगवान्के चरणकमलका भजन नहीं करता है,

जबकि देवोंमें उत्तम देव भी उनका भजन करते हैं।।२।।

व्याख्यार्थ: भगवत्सेवा मुक्तिसे भी विशेष अखण्ड एवं अनन्त रसदायी है, इससे ही इन्द्रियोंकी(मनुष्य जन्मकी) सफलता होती है, इन्द्रियवाला किसको कहना चाहिए? जिसके उत्तरमें आचार्यश्री आज्ञा करते हैं, कि 'इसको' अर्थात् जिसके पास इन्द्रियां है इससे वह इन्द्रियोंवाला नहीं कहा जा सकता है, यथा जो मनुष्य सेवक किसी राजा या सेठके अश्वकी रक्षा करता है इससे उस सेवकको यह अश्वपति है ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वह सेवक अश्वसे जो चाहे वह कार्य नहीं ले सकता है, इससे कार्य न ले सकनेसे वह दोषी नहीं, उसी प्रकार जिसकी इन्द्रियां अपने वशमें नहीं है वह परवश इन्द्रियोंवाला होनेसे यदि सेवा नहीं कर सकता है इससे वह दोषवाला नहीं, किन्तु जिसकी इन्द्रियां अपनी हैं अर्थात् अपने वशमें हैं और उनसे सेवा सिद्ध हो सकती है, वह क्यों नहीं सेवा करता है? यदि कहो कि सेवा करनेका कोई प्रयोजन नहीं है, तो यह कहना अनुचित है. जिस प्रभुकी सेवा की जाती है या करनी चाहिए, यह मोक्ष देनेवाली एवं सुखसेव्य है, जब देवता भी मुक्ति चाहते हैं तो जिनको चारों ओरसे मृत्युने घेर लिया है, उनको तो सर्वथासेवा करनी आवश्यक है. सेवा उससे ही होती है जिसका अन्तिम जन्म है, क्योंकि यही जन्म ही उत्तमता है।।२।।

तम् एकदा च देवर्षिं वसुदेवो गृहागतम्।
पूजितं सुखम् आसीनम् अभिवाद्येदम् अब्रवीत्।। ३।।

श्लोकार्थ: किसी दिन वसुदेवजीके घरमें पधारे हुए उन देवर्षिको सुखपूर्वक बैठ जानेके अनन्तर पूजा तथा अभिवादनकर यों कहने लगे।।३।।

व्याख्यार्थ: बहुत करके वसुदेवजीने यदुकुलक्षयका समाचार नहीं सुना था क्योंकि उनके घरमें श्रीकृष्णजी विराजते थे, अतः लोगोंने यह वृत्तान्त नहीं सुनाया कारण कि, यह वृत्तान्त वसुदेवजीको वैराग्य होनेमें उपयोगी नहीं था अथवा, विशेषण 'निसृष्ठा' इस वचनसे या पूर्व भावी ऐसी थी, नारदजी वसुदेवजीके यहां फिर आए, जिसका कारण था कि नारदजीको कृष्णकी उपासनाकी लालसा थी. पूर्व पक्षमें तो निःशंकतासे स्थिति थी. उत्तर पक्षमें कृष्णगृहमें स्थितिके अनन्तर वसुदेवजीके घर आकर बिराजे. शापके अनन्तर क्या भावी बननेवाली है? जिसका निर्धारण भगवत् वाक्यसे ही हुआ जिससे सब ठीक-ठीक हो गया. तब इस प्रकारकी कथा है. विस्तारसे बस 'तं' विशेषण

नारदजीकी यह पहचान कराई है कि यह नारदजी वह हैं जिनने 'पञ्चरात्र' ग्रन्थ बनाया है. सर्वदा तो अन्य कथा भी है. 'एकदा' पदका भाव है कि जब सात्त्विक काल था उस वक्त नारदजी वसुदेवजीके घर पधारे थे. 'वसुदेव' यह पद देकर यह सूचित किया है कि यह शुद्ध सत्त्वरूप है. ऋषि वे हैं जो अलौकिक मन्त्र द्रष्टा हैं. उनमें जो देवर्षि हैं वे पुष्टिमार्गीय मन्त्रद्रष्टा होते हैं, जिससे वे भगवान्की विभूतिरूप हैं. 'च' अक्षर यहां 'तु' अर्थमें दिया है. प्रकृत विषयमें इनका ही उपयोग है. गृहमें पधारे हैं, जिससे स्वाधीनतासे पूजित हुवे, यह पूजन उत्तर प्रश्नकेलिए उपयोगी है. नारदजीका यहां आना भगवान्की प्रेरणासे हुआ है, जिससे उपासनार्थ भी व्यग्रता नहीं. इसलिए कहा 'सुखमासीनं' सुख पूर्वक अर्थात् आनन्दसे विराजे, सुखसे विराजमान होनेके अनन्तर अभिवादन किया. यह अभिवादन बताता है कि वसुदेवजीकी नारदजीमें 'गुरु' भावना है. वसुदेवजी जो अब पूछते हैं वह बहुत समयसे वसुदेवजीके हृदयमें स्थित था, तुरन्त उद्भूत ये प्रश्न नहीं है।।३।।

आभासार्थ: वसुदेवजी छे श्लोकोंसे प्रश्न कहते हैं. कारण कि 'भग्' शब्द वाच्यके छः अर्थ हैं. जिनमेंसे तीन श्लोकोंसे नारदजीको प्रोत्साहन देते हैं और तीन श्लोकोंसे प्रश्न करते हैं:

श्रीवसुदेव उवाच

भगवन् भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम्।
कृपणानां यथा पित्रोः उत्तमश्लोकवर्त्मनाम्।।४।।

श्लोकार्थ: हे भगवन्! जिस प्रकार माता पिताका आगमन, अपनी कृपण चाहे सम्पन्न संततिकेलिए कल्याणकर है. वैसे ही आपकी यात्रा भी सर्व जीवोंके हितार्थ ही है, कारण कि, आप भगवान्की प्राप्तिके मार्गरूप हैं, क्योंकि, भगवद्भक्तिमार्गमें प्रविष्ट होकर आप उसकेद्वारा सरल रीतिसे जीव मात्रका कल्याण कर रहे हैं।।४।।

व्याख्यार्थ: वसुदेवजी प्रथम नारदजीके ही असाधारण गुणोंसे उनको प्रोत्साहित करते हैं, ''ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'' जो ब्रह्मको जानता है, वह ब्रह्मरूप हो जाता है, अर्थात्, आप नारदजी ब्रह्मको जानते हो अतः ब्रह्मरूप हो, 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' जो जिसमें श्रद्धावाला होता है वह भी उसका ही रूप हो जाता है. हे नारदजी! आपकी भगवान्में ही श्रद्धा है अतः आप भगवद्रूप हैं एवं

गुरुपनसे(अज्ञानान्धकार नाश कर्ता होनेसे) भगवान् हैं. अतः वसुदेवजीने स्पष्ट 'भगवान्' विशेषण दिया है, जगत्के मित्र होनेसे ही आप नारद हैं, मित्र वह कहा जाता है जो दुःखको मिटावे, आप दुःखद जीवभावको मिटाकर ब्रह्मभावका उद्भव करते हैं, अतः आप जगत्के सच्चे मित्र हैं, इसलिए आपकी यात्रा है. आपका मित्रत्व राजादि सर्वसे विलक्षण है, क्योंकि जो हित आप कर सकते हैं राजादिमें वैसे हित करनेकी शक्ति नहीं है, आप किसी विशेष व्यक्तिका हित करते हैं, यों नहीं है. किन्तु सर्व प्रकारके देहधारियोंके हितकारी हैं कारण कि, सर्वथा स्वतः निरपेक्ष हैं, किसी प्रकारकी आपकी अपेक्षा नहीं है. आप अहिंसापूर्ण धर्मका ज्ञान देते हैं. संसारके उद्धारकपनसे आप अन्योंसे विशेष हैं, अन्य तो उनका उद्धार कर सकते हैं जो देहाभिमानी नहीं हैं. किन्तु आपमें यह विशेषता है कि देहाभिमानियोंका भी संसारसे आप उद्धार करते हैं. आप स्वतः अपनी कृपा पूर्वक इच्छासे ही उनके उद्धारका विचार करते हैं, उनका सर्व प्रकारसे हित करनेमें यह दृष्टान्त है, जब माता-पिताका आगमन सम्पन्न संततिकेलिए हितकर है तो कृपण संतानकेलिए हितकर हो तो इसमें क्या आश्चर्य है. जिस संतानको माता तथा पिता दोनोंका वियोग हो तो वह अतिरंक होता है. 'उत्तम श्लोक वर्त्मनाम्' यह विशेषण कल्याणकी परमोत्कर्षता दिखानेकेलिए दिया गया है. कारण कि जो भगवन्मार्गमें प्रविष्ट हैं, उनको नित्य भगवद्रसानन्दकी प्राप्ति होती रहती है. इसी तरह नारदजीमें तीन गुण हैं, १. सबसे मैत्री, २. सबका हित करना, ३. गोविन्दकी प्राप्ति करा देना, इन तीनोंमेंसे एककी प्राप्तिसे भी जब हम कृतार्थ हैं, तो तीनोंकी प्राप्तिसे कितनी कृतार्थता होगी? वह अकथनीय है. उपसंहारमें बहुवचन देनेका तात्पर्य है कि व्यवहारमें जो पूज्यनीय होता है उसकेलिए बहुवचन दिया जाता है. इसके देनेका यह भी आशय है कि वाणीसे कोई दोष हो गया हो तो उसका परिहार हो जाए अर्थात् वह दोष नष्ट हो जाए, पधारना तो भगवदिच्छासे हुआ है इसीलिए कोई विरोध नहीं है।।४।।

आभासार्थः नारदजीके आनेसे वसुदेवजीने उनकी इतनी प्रशंसा किसलिए की? इस शंका निवारणार्थ प्रकट करते हैं कि नारदजी भगवद् विभूति हैं:

भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च।
सुखायैव हि साधूनां त्वादृशाम् अच्युतात्मनाम्।।५।।

श्लोकार्थः देवताओंके चरित्र, भूतों(जीवों)केलिए सुख तथा दुःख

दोनोंके कारण होते हैं. अच्युत(परिपूर्ण) भगवान्में जिनकी आत्मा संलग्न है ऐसे आप जैसोंके चरित्र तो केवल सुखकेलिए ही हैं।।५।।

व्याख्यार्थ: देवताओंसे भी उत्तमपनेसे तथा सबको सुखके ही दाता होनेसे अग्रिम श्लोकमें नारदजीका देवर्षित्व एवं भगवद्विभूतित्व प्रकट किया है. देव दो तरहके होते हैं, १. प्रवाही देव, २. मर्यादी देव, उनमें प्रवाही देव वृष्टि आदि करते हैं. वृष्टि आदि देव दुःखकर भी हैं, प्रवाही देव भी दो प्रकारके होते हैं, १. बाह्य, २. आन्तरिक+१(भीतरके) सुख एवं दुःख लौकिक भी हैं तथा अलौकिक भी हैं, दो 'च'कार देनेका आशय है कि यहां सुख दुःख अलौकिक ही ग्रहणीय समझने चाहिए. वे केवल मानस वैद्य हैं. 'भूतानि' शब्दसे भूलोकमें स्थित जीव समझने चाहिए. प्रकरणसे विशेष हैं अतः 'भूत' पदसे संकुचितता नहीं समझनी चाहिए. यद्यपि देवोंके चरित्र महान् होते हैं तो भी सुख तथा दुःख दोनोंके देनेवाले हैं. मन्त्रद्रष्टा होनेसे 'ऋषित्व' है. 'हि' पदके भावार्थको प्रकट करते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि 'मन्त्र' तो सहज धर्मको भी जितनी अपेक्षा होती है उतना अंशतः प्रतिबन्ध करते हैं. वह यहां सहभावी दुःखका ही प्रतिबन्ध करते हैं. जैसे मन्त्र आदि, अग्निके केवल दाहकत्वको ही प्रतिबन्ध करते हैं, न कि स्वरूपसे अग्निको नष्ट कर सकते हैं. वैसे देव भी केवल उन(सुख दुःखादि)का प्रतिबन्ध मात्र कर सकते हैं, किन्तु साधुजन सदाचार एवं मर्यादाके रक्षक हैं. लोकहितार्थ भगवान्ने उनको अधिकार दिया है. जो नारद तुल्य, पुष्टिमार्गीय हैं, गोपीयोंके तुल्य अच्युतमें ही जिनकी आत्मा प्रवण हो गई है, मन्त्र भी तीन तरहके हैं. १.मर्यादावाले २.देव गुह्य ३.जो भगवान्को भी वश कर सकते हैं, इसलिए आप भगवद्विभूतिरूप साधुजन तथा महर्षि भगवद्विचारित, देव कृत अथवा मर्यादासे प्राप्त(कर्मादिसे प्राप्त) दुःखको मन्त्र प्रयोगसे दूरकर सुख ही सिद्ध करते हैं, अर्थात् दुःखका उन्मूलनकर पूर्ण सुख(आनन्द)का दान करते हैं।।५।।

१. भीतरके देव वे हैं जो इन्द्रियोंके अधिष्ठाता हैं.

आभासार्थ: नारदजी भगवान्के विभूतिरूप हैं ऐसा कहनेकेलिए आगेसे भी विशेष इस श्लोकमें कहते हैं:

भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्।
छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः।।६।।

श्लोकार्थ: जो मनुष्य जिस प्रकार देवोंका भजन करते हैं, देव भी उनका

उसी तरह भजन करते हैं अर्थात् हित करते हैं, क्योंकि देव कर्म सचिव होनेसे छायाकी तरह कर्मोंके अनुसार ही फल दे सकते हैं, साधुजन तो दीनवत्सल होनेसे उनके कर्मोंका विचार न कर अपनी दयालुतासे उनका हित ही करते हैं।।६।।

व्याख्यार्थ: यज्ञमें जिन देवोंका पूजन होता है वे देव भगवान्के ही अवयव(अंग) हैं, ''यत् न दुःखेन संभिन्नम्'' इस वाक्यानुसार जहां स्पर्धादि दुःख नहीं वैसा स्वर्ग पद वाच्य आत्म-सुख ही निष्काम यज्ञ कर्ताको प्राप्त होता है, जब ऐसा शास्त्र वाक्य है तो फिर कैसे कहा जाता है कि 'देव दुःख भी देते हैं' इस शंकाका निवारण करते हुए आचार्यश्री श्लोकके पदोंका आशय स्पष्ट करते हुए आज्ञा करते हैं कि देव भगवदवयव होते हुवे भी कर्म सचिव हैं, अतः जैसे मन्त्री राजाके आधीन रहकर ही कार्य करते हैं वैसे देव भी कर्माधीन होनेसे कर्मानुकूल ही फल देते हैं, इसलिए जीव जैसे उत्तम, मध्यम आदि यज्ञादि कर्म करते हैं तदनुसार ही फल दे सकते हैं, अतः इस विषयमें दयादिका विचार ही नहीं किया जा सकता है, देवोंकी अपेक्षा भगवद्भक्त साधुओंमें क्या विशेषता है? वह स्पष्ट करते हैं कि 'साधवो दीनः वत्सलाः' साधुजन दीनों पर वत्सोंकी तरह प्यार करते हैं, उनके कर्मों पर दृष्टिपात नहीं करते हैं, संत भगवद्रूप होते हैं. अतः अंशी जो कर्म कर सकता है वह कर्म अंश नहीं कर सकता है क्योंकि अंश अपूर्ण है, इसलिए अंश रूप देव कर्माधीन होनेसे दयाद्वारा किसी जीवका हित नहीं कर सकते हैं, भगवद्भक्त भगवद्रूप होनेसे भगवत्-सम ही शक्ति एवं गुणवाले हैं, जिससे वे भगवान्की तरह ही दीनवत्सल होते हैं, अतः वे जो जीव दैन्ययुक्त ही साधुओंकी एवं भगवान्की शरण लेते हैं, उनकी दीनता मात्रको देख उन पर पूर्ण कृपा करते हैं, जिससे वे जैसे बछड़ा गौका दूध निर्भय हो कर पीता है, वैसे वे दीन साधुओंकी कृपा मात्रसे भगवद्रस पान करते हैं, ऐसा कहकर वसुदेवजीने यह सिद्ध कर बताया है कि भगवदवतारकी तरह आपके समागम मात्रसे ही सब जीवोंको सर्व लौकिक अलौकिक सुख सिद्ध होता है. इस प्रकार नारदजीके गुण वर्णनसे उनको उपदेशार्थ प्रोत्साहित किया है।।६।।

आभासार्थ: तीन(४-६) श्लोकोंसे प्रोत्साहित कर अब(७-९) इन तीन श्लोकोंसे प्रश्न करते हैं:

ब्रह्मंस्तथापि पृच्छामो धर्मान् भागवतांस्तव।
यान् श्रुत्वा श्रद्धया मर्त्यो मुच्यते सर्वतो भयात्।।७।।

श्लोकार्थ: वसुदेवजी कहते हैं कि हे ब्रह्मन्! मुझे ब्रह्मभाव सिद्ध हुआ है तो भी आपसे भगवत्सम्बन्धी धर्म पूछता हूं, कारण कि, भागवत धर्मोंको श्रद्धाके साथ सुननेके सिवाय मर्त्यधर्मा मनुष्य समस्त प्रकारके भयसे नहीं छूट सकता है, चाहे वह ब्रह्मभावको भी प्राप्त हुआ हो।।७।।

व्याख्यार्थ: जिसने अपना वृत्तान्त जान लिया है, और साध्य-साधनभावको भी समझ लिया है, वैसे ब्रह्मभावके अभिलाषी वसुदेवजी भागवत धर्मोंको पूछते हैं, क्योंकि उनको यह निश्चय हो गया है, कि शास्त्रोंमें ''आचार्यवान् पुरुषो वेद'' कहा है, अर्थात् वह ही तत्त्वको जान सकता है, जिसने 'गुरु' किया है. गुरु बिना तत्त्वज्ञान नहीं आता है. भगवान्में ब्रह्मत्व भावना हो किन्तु जब तक भगवान् अपनेको उसका गुरु नहीं मानते हैं, तब तक वह शास्त्रके तत्त्वको प्राप्त नहीं कर सकता है यथा, वसुदेवको भगवान्ने उपदेश दिया किन्तु वसुदेवकी भगवान्में पुत्र भावना थी, जिससे भगवान्ने गुरुत्व स्वीकार नहीं किया, अतः वह उपदेश फलीभूत नहीं हुआ. केवल उस अखण्ड ज्ञानोपदेश द्वारा जीवन्मुक्ति न्यायसे ब्रह्मभाव मात्र ही वसुदेवजीको प्राप्त हुआ. किन्तु 'ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा' इस गीता वाक्यानुसार जो अर्थ(फल) सिद्ध होना चाहिए था, वह न हुआ, तब वसुदेवजीने समझ लिया कि यह फल सिद्धि भगवद्धर्माचरणके सिवाय नहीं होगी. अतः ऐसे भगवद्विभूतिरूप ब्रह्मर्षि भगवदिच्छासे प्राप्त हुवे हैं, इनसे भगवद्धर्म सीखकर उनका आचरण करूं तो सर्वतः निर्भय हो पूर्णफलको पा सकूंगा. अतः नारदजीसे वसुदेवजीने भगवद्धर्म सम्बन्धी प्रश्न किया है. नारदजीको 'ब्रह्मन्' सम्बोधन देकर यह सिद्ध किया है, कि नारदजीको ब्रह्मभाव सिद्ध हुआ है. अतः यह सम्बोधन केवल स्तुतिकेलिए नहीं है, यद्यपि आपके आगमन मात्रसे हमारा मनोरथ सिद्ध हो गया है, अपनेलिए आचरण मिलनेवाला जो भगवद्धर्म है, और विचारा हुवा ब्रह्मभाव, ये दोनों ही आप ब्रह्मरूप गुरुके पधारनेसे ही सिद्ध हो गए हैं, तो भी शास्त्रार्थके पालनार्थ पूछते हैं. बहुवचन देनेका आशय है, कि केवल मैं नहीं पूछता हूं किन्तु देवकी प्रभृति हमारे सम्बन्धियोंका भी वैसा ही मनोभाव है. 'भागवतान्' बहुवचनसे यह आशय दिखाया है कि प्रमाण, स्वरूप एवं फल इन तीन प्रकारसे नियत जो धर्म सम्बन्ध है, उनका आचरण आप भी कर रहे हैं वा आपकेलिए भी अनुष्ठेय(करने योग्य) हैं, इन भगवद्धर्मोंका दुःख निवर्तकत्व तो अब ही है. अतः कहा है जिनको

केवल सुननेसे ही मर्त्यधर्मा सर्वतः भयसे छूट जाता है. मनुष्य स्वभावसे ही भयसे घिरा हुआ है, क्योंकि उसको सदैव यह भीति रहती है कि मैं मरूंगा. इस प्रकार आध्यात्मिकादि चिंताओंसे भीतिको प्राप्त मनुष्यकेलिए निश्चिन्त होनेका उपाय भगवद्धर्म श्रवण कर उनका आचरण करना ही है।।७।।

अहं किल पुरानन्तं प्रजार्थो भुवि मुक्तिदम्।
अपूजयन् न मोक्षाय मोहितो देवमायया।।८।।

श्लोकार्थ: मैंने पूर्वकालमें मुक्तिदाता अनन्त भगवान्की प्रजा प्राप्ति, हेतु पूजा की, मोक्षकेलिए नहीं की, कारण कि, उस देवकी मायासे मोहित हो गया था।।८।।

व्याख्यार्थ: पूर्व कालमें जब वसुदेवजी कर्दम थे तब उनने भगवान्की दिव्य द्वादश सहस्त्र वर्ष तपस्या की थी, इतनी तपस्याके अनन्तर भगवान् उन पर प्रसन्न हुवे, तो भी शुक्लकी तरह उसके गुरु क्यों न हुए? इस शंकाका निवारण करते हुए कहते हैं, कि भगवान्का प्राकट्य दोनों जन्मोंमें पुत्र रूपसे हुआ है. भगवान् सत्य संकल्प हैं, अतः जब पुत्र रूपसे उत्पन्न हुवे तो, गुरुत्व कैसे स्वीकार करते, 'पुरा' पदका तात्पर्य बताते हैं, कि इस जन्ममें यह कथा प्रसिद्ध नहीं है, पिछले जन्म प्रसिद्ध थी, अतः 'पुरा' शब्द कहा है. भगवान्की ईश्वरताका परिचय न होनेसे गुरु होकर उपदेश देना उचित नहीं, यह कहना अपूर्ण है, कारण कि जिसकीसेवा पूजा तपस्यादि की गई है, उसके ईश्वरत्वका तो परिचय है, किन्तु इसमें अन्य प्रकार है. वह प्रकार है, ईश्वर परिचय होते हुए भी प्रजाकेलिए सेवादि की थी, मोक्षकेलिए नहीं. अतः न क्रम मुक्ति हुई, न मुक्ति हुई. दोनोंकी प्राप्ति न हुई केवल तपस्यासे चित्त शुद्धि हुई. जब तपसे चित्त शुद्धि भी हुई तो फिर मुक्ति क्यों न मांगी? इस पर कहते हैं, कि भगवन्मायासे मोहित होनेके कारण भगवत्सदृश पुत्रकेलिए प्रार्थना की. 'प्रजासर्गेब्रह्मणादिष्टौ' इस वाक्यानुसार भी ऐसी ही बुद्धि हुई. न केवल वसुदेवजीने ऐसा विचारा किन्तु भगवान्ने भी ऐसा ही विचार किया भगवान्ने विचारा कि मेरे समान तो अन्य कोई है ही नहीं, अब क्या करें? इस विचारसे विलम्ब होने लगा, तपस्याकी अधिकतासे चित्त शुद्धि तो हुई ही थी तथा भगवान्का विचार भी अन्यथा नहीं हो सकता है, अतः देवमायासे मोहित हो पुत्र मांगा और भगवान्ने भी सत्य संकल्प होनेसे स्वविचारित ही किया अर्थात् पुत्रत्व ही स्वीकार किया गुरुत्व नहीं।।८।।

वसुदेव उवाच

यथा विचित्रव्यसनाद् भवेऽस्मिन् सर्वतोभयात्।

मुच्येम ह्यञ्जसैवाद्धा तथा नः शाधि सुव्रत।। ९।।

श्लोकार्थ: आश्रित जीवोंके संकट निवारक व्रतधारी हैं नारदजी? चारों तरहसे जिसमें भय व्याप्त है और जिसमें विचित्र प्रकारके व्यसन मौजूद हैं ऐसे इस संसारसे हम इस ही जन्मसे छूट कर शीघ्र ही मुक्त हो जावें, ऐसा उपदेश दो।।९।।

व्याख्यार्थ: इस जन्ममें मुक्तिकेलिए विशेष प्रार्थना की गई है. यदि कहो, कि तुम्हारी मुक्तिमें भगवान् प्रतिबन्धक हैं, तो यह भी असत्य है, क्योंकि स्वयं भगवान्ने कहा है, कि मुझे ईश्वर भावसे चाहे पुत्र भावसे भजोगे तो भी मेरी गतिको प्राप्त करोगे अर्थात् मुक्त हो जाओगे, इसलिए वे प्रतिबन्धक नहीं होंगे. इस जन्ममें संसारमें रुचि भी नहीं है, क्योंकि यह विचित्र व्यसनोंवाले हैं, यद्यपि भगवान् पुत्र रूपसे विराजमान हैं, किन्तु पुत्र आदि संसारकी अन्य चिंताओंसे व्यसन होता है. इस प्रकार होने पर इस संसारके व्यसनोंका अन्त कब होगा? उस व्यसनका एक प्रकार तो है ही नहीं, व्यसन न हो तदर्थ किए हुए उपायसे दूसरा व्यसन उत्पन्न होता है, यह ही वैचित्र्य है. इस जन्ममें मुक्ति हो ऐसा क्यों कहते हो? इसमें न हुई तो दूसरे जन्ममें होगी. जिस शंका निवृत्त्यर्थ कहते हैं, कि न जाने दूसरे जन्ममें किस प्रकारकी साधन सम्पत्ति प्राप्त होगी? उससे मुक्ति हो सकेगी वैसा निश्चय नहीं, इसलिए चाहता हूं कि इस जन्ममें ही हो जावे. प्रजा पतित्व यह अधिकार भी भयका कारण है, तथा वैकुण्ठसे यहां आना भयका कारण है, इस प्रकार इस संसारमें चारों तरफ भय व्याप्त है. इसलिए मेरी प्रार्थना है, कि ऐसी शिक्षा दो जिससे शीघ्र बिना परिश्रम इस जन्ममें ही हम संसारसे मुक्त हो जावें. कारण कि, परिश्रम करनेसे चित्तमें अशांति वा विक्षेपादि होनेसे फिर संसारमें आना पड़ता है. इसलिए प्रार्थना करता हूं कि ऐसा साक्षात् उपाय बताईये जिसमें कष्ट न हो. यह जीव बाह्य(बाहरी) तथा आभ्यन्तर(भीतरके) भेदसे बन्धनमें पड़ा हुआ है. उस बन्धनसे छूटनेकेलिए सत्वगुणके आश्रयकी आवश्यकता है. वह सत्वगुणाश्रय हो तदर्थ भी उपाय बताईये, आपको इस प्रकार प्रार्थना करनेका कारण यह है, कि जीवोंका कल्याण मुझसे हो वैसा व्रत आपने धारण कर रखा है. जीवोंके हितार्थ भगवान्को भी आप प्रार्थना कर मना लेते हैं. आप जानते हैं कि केवल उपदेश मात्रसे कार्य सिद्ध नहीं होगा. इस प्रकार तीन श्लोकोंसे प्रश्नकी सिद्धि की गई है।।९।।

आभासार्थ: परीक्षित इस विषयको सावधान होकर श्रवण करें, जिससे उसकी सिद्धि हो तदर्थ, बीचमें यह श्लोक 'राजन्नेवम्' श्रीशुकदेवजीने कहा है:

श्रीशुक उवाच

राजन्नेवं कृतप्रश्नो वसुदेवेन धीमता।

प्रीतस्तमाह देवर्षिः हरेः संस्मारितो गुणैः।।१०।।

श्लोकार्थ: हे राजन्! बुद्धिमान् वसुदेवजीने जब इस प्रकार देवर्षि नारदजीसे प्रश्न किये तब नारदजीको भगवान्के गुणोंका स्मरण हो आया जिससे नारदजी प्रसन्न होकर वसुदेवजीको उत्तर देने लगे।।१०।।

व्याख्यार्थ: राजन्! यह सम्बोधन परीक्षितकी महत्ता प्रकट करनेकेलिए दिया है. वसुदेवको 'धीमता' विशेषण देकर नारदजीको देवर्षि विशेषण देकर यह बताया है कि दोनों(ही) योग्य हैं. वसुदेवजी उपदेश सुननेके योग्य हैं और नारदजी उपदेष्टाके ही योग्य है. इसलिए नारदजीने सर्वथा परम(अर्थात् उत्तम) सिद्धान्तका उपदेश दिया, जिसमें विशेष अन्य हेतु यह है कि नारदजीको भगवान्के गुण पुत्रादि भावकी अनुवृत्ति हो आई, जिससे प्रसन्न हुवे और यह समझ लिया कि वसुदेवजी सम्यक् प्रकारसे महान् हैं. उनका पूर्व वृत्तान्त अच्छे प्रकारसे जान लिया।।१०।।

आभासार्थ: अब नारदजी वसुदेवजीके प्रश्नोंका शास्त्रीय उत्तर देते हुवे प्रथम तीन श्लोकोंसे उनका अभिनन्दन करते हैं:

श्रीनारद उवाच

सम्यग् एतद् व्यवसितं भवता सात्त्वतर्षभ।

यत् पृच्छसे भागवतान् धर्मान् त्वं विश्वभावनान्।। ११।।

श्लोकार्थ: नारदजीने कहा, हे सात्त्वतभक्तोंमें उत्तम! आपने यह सुंदर एवं उच्च निश्चय किया है कि, जिनका सर्व प्रकारसे विश्वमें अभाव है उन भागवत धर्मों(वैष्णव धर्मों)को आप पूछ रहे हैं।।११।।

व्याख्यार्थ: गुरु एवं शिष्यके मध्यमें जो प्रवचन हो, उसकी स्तुति करनी चाहिए, उसमें प्रथम श्रोताका अभिनन्दन करना है, अतः 'सम्यक्' पद देकर श्रोताको धन्यवाद दिया है कि भागवत धर्मोंका श्रवण और आचरण करना चाहिए, यह ही शास्त्रोंके अर्थका निर्णय है. ऐसा परम सिद्धान्त जो हम कहनेवाले हैं, आपने भी वह ही निश्चय किया है, अतः आप धन्यवादके पात्र हैं. आप

भगवद्भक्तोंमें उत्तम हैं क्योंकि, भगवदानन्द प्राप्तिकेलिए जो निश्चित मार्ग है उसको आपने कहा है. यदि कहें कि हमने कहा है तो फिर पूछते क्यों है? जिसका नारदजी उत्तर देते हैं कि ''आचार्यवान् पुरुषो वेद'' इस श्रुतिके अनुसार आप गुरु करना आवश्यक समझते हैं. इसलिए पूछ रहे हैं. गुरुके मुख द्वारा उपदेश लिए बिना केवल शास्त्रोंसे प्राप्त किए उपदेशसे फल सिद्धि नहीं होती है. अनुवाद होने पर भी फिर भगवदीयत्वका निर्देश भक्तिसे है. ये भागवतधर्म ऐसे हैं, जो समग्र विश्वमें इनका प्रभाव है. इन धर्मोंके सहयोग बिना केवल अन्य धर्मोंसे कार्य सिद्धि नहीं होती है किन्तु केवल इन भागवतधर्मोंके श्रवण तथा अनुष्ठानसे निर्विघ्न कार्य सिद्धि शीघ्र हो जाती है, महाप्रभावशाली भागवतधर्म ऐसे हैं. भागवतधर्मोंका ऐसा उच्चतम प्रभाव है, कि सामान्य प्रकारसे सुनने पर भी अन्तः करणकी वृत्तियां संसारसे छूटकर भगवान्में अपने आप निरुद्ध हो जाती है।।११।।

आभासार्थः भागवतधर्मोंका प्रभाव ही प्रश्न करनेका कारण है ऐसा कहकर अब कैमुतिक न्यायसे भागवतधर्मोंकी स्तुति करते हैं.

श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः।
सद्यः पुनाति सद्धर्मो देव विश्वद्रुहोऽपि हि।।१२।।

श्लोकार्थः सत् धर्म, भागवतधर्मोंमेंसे एक धर्मका भी यदि कोई मनुष्य, श्रवण करे, वा कीर्तन करे, अथवा ध्यानमात्र करे, वा आदर ही करे तथा केवल अनुमोदन करे तो देवता तथा समग्र विश्वका द्रोही हो तो भी वह जब शीघ्र पवित्र हो सिद्धि पाता है तो जो शुद्ध है वह परम फल पावे इसकेलिए कहना ही क्या है?।।१२।।

व्याख्यार्थः भागवतधर्मोंमेंसे एक धर्म भी, लोक तथा वेदके द्रोहीको और सब प्रकारसे पतित होनेसे प्रायश्चितके भी जो योग्य नहीं रहे हैं ऐसे बहुतोंको भी केवल श्रवण मात्रसे शीघ्र पवित्र करता है, तो फिर भगवद्धर्मोंका माहात्म्य कितना महान् होगा वह कैसे वर्णन कर सके? जैसे भगवान्के सेवकोंने अजामिल जैसे पापीका भी पक्षपात कर भागवतधर्मका प्रताप दिखाया ''भूतानि विष्णेः सुरपूजितानि'' इस न्यायसे सुना है. वैसे तो लोकमें तथा वेदमें पवित्रता दुर्लभ है, किन्तु भागवत् धर्म उसकी चिंता न कर फल सिद्धि कर देता है. श्रवणके अनन्तर जो कीर्तन किया जाता है उसको अनुपठन कहते हैं. ध्यानका आशय है, भागवतधर्ममें चित्तका पिरोना अर्थात् मनको भागवतधर्म निरुद्ध कर देना. सारांश

है कि काया, वाणी और मन तीनोंमें भागवतधर्म समा जावे, अथवा प्रेम सहित उसका आदर मात्र किया जावे, तथा अन्य कोई धर्मका श्रवणादितासे करे तो उसका भी अनुमोदन करे, जिससे भगवत्सेवकोंमें भी भगवद्धर्ममें रुचिके कारण मत्सरताका अभाव होता है. इसमें किसी अन्य प्रमाणकी आवश्यक्ता नहीं है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष ही सिद्ध है. इससे जहां भगवत्सेवकोंका भी ऐसा उत्तम गुणवाला धर्म है तो वहां भगवद्धर्मोंके माहात्म्यकेलिए क्या कहा जाए? अर्थात् उनका माहात्म्य अनन्त तथा अगाध है।।१२।।

आभासार्थ: आपने भगवत्स्मरण कराया है जिससे मैं भी कृतार्थ हुआ हूं, जिसका वर्णन इस १३ वें श्लोकमें करते हैं:

त्वया परमकल्याण: पुण्यश्रवणकीर्तन:।
स्मारितो भगवान् अद्य देवो नारायणो मम।।१३।।

श्लोकार्थ: तुमने जो आज मुझे, मेरे सेव्य भगवान् नारायण देवका स्मरण कराया है, जो परम कल्याण कारक तथा जिनका श्रवण एवं कीर्तन पुण्यदाता है।।१३।।

व्याख्यार्थ: अन्य लौकिक, वैदिक धर्म पूछनेवाले तो प्रायः मिलते हैं, किन्तु भागवतधर्म पूछनेवाला जहां भी देखते हैं वहां दुर्लभ है, उन्होंने भागवतधर्म पूछकर मुझे अपना सेव्य नारायण सम्यक् स्मरण कराया है. वैष्णवोंको तो भगवत्स्मरण सर्वदा करना चाहिए यों शास्त्रोंमें आज्ञा है. स्मरण करने करानेसे प्रेमका प्रादुर्भाव होता है, उस प्रादुर्भूत प्रेमसे शिथिल चित्तमें फिर भगवत्स्मरण केलिए स्फूर्ति हो आती है. वह स्फूर्ति आज आपने भागवतधर्म पूछकर मुझे कराई है, अतः आप अभिनन्दनीय हैं. विवाहादि लौकिक कार्य लोक दृष्टिमें कल्याण रूप हैं, और गंगास्नानादि वेद शास्त्र विहित कर्म पुण्यरूप है, इनसे ऐहिक(इस लोककी) और आमुष्मिकीय(परलोककी) पुरुषार्थ रूपता सिद्ध होती है. 'परम' पदसे परमानन्द रूपत्व सिद्ध किया है, ''रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः'' इस प्रमाणानुसार भगवान्रूप(स्वरूप) नाम(शास्त्र) आदिसे जगत्में क्रीडा करते हैं एवं इस प्रकार जगत्रूप होकर क्रीड़ा करते हुए स्वांश जीवोंको सांसारिक प्रपञ्च छुड़वाकर अपने परमानन्दका दान करते हैं, इसलिए साधनरूपसे श्रवण कीर्तन कहे हैं. 'भगवान्' पद देकर 'धर्मोंका' निर्देश किया है. ऐहिक(इस लोक) और आमुष्मिक(परलोक)के बाद जो परम फल प्राप्त होता है वह देव नारायण ही है.

वह भगवान् देवोंका पक्षपात करते हैं, अतः यहां 'देव' कहा है और ब्रह्म जनकत्व होनेसे 'नारायण' कहा है, इस प्रकार सब इनकी अपेक्षा करते हैं. मेरे तो स्वामी होनेसे सेव्य हैं, सेवामें भी इस समय तिरोहितसे हो गए थे, जिसको आज पुनः स्मरण कराया है अतः आप धन्य हैं।।१३।।

आभासार्थः इस प्रकार नारदजी वसुदेवजीका अभिनन्दनकर अब शास्त्र विषयका आरम्भ करते हैं:

अत्राप्युदाहरन्तीमम् इतिहासं पुरातनम्।
आर्षभाणां च संवादं विदेहस्य महात्मनः।।१४।।

श्लोकार्थः इस भागवतधर्म सम्बन्धी प्रश्न विषयमें महात्मा विदेह तथा ऋषभदेवके पुत्रोंका जो संवाद अगले कल्पमें हुआ था वह इतिहासरूपमें परम्परासे उदाहरण स्वरूपसे दिया जाता है।।१४।।

व्याख्यार्थः यह सिद्धान्त तो सिद्ध हो गया है कि 'गुरुके मुखारविन्दसे प्राप्त उपदेश मात्रसे शिष्यको शास्त्रीय तत्त्वका ज्ञान पूर्णतया समझमें आ जाता है' जिससे वह शीघ्र संसारसे विमुक्त हो भगवद्रसका पान करने योग्य बनता है. भागवतधर्मका प्रश्न जो अब तुमने किया है, उसकेलिए ऐसा नहीं समझें कि ऐसा प्रश्न मैंने ही किया है, किन्तु यह प्रश्न पुरातन(पुराना) भी है, ऐसा कहकर यह सिद्ध कर बताया है कि इसका फल नियत निश्चित है, वे प्रश्न अगले कल्पके हैं, यह सूचित करनेकेलिए कहते हैं कि दूसरे कल्पके तथा दूसरे जन्मके गुरु और अन्य महापुरुष इस प्रकारके प्रश्नका इतिहास उदाहरणरूपमें कथन करते हैं. नारदजीके एवं वसुदेवजीके संवाद विषयक कल्पसे यह पुराना है. यह मुक्तोंके विषय सम्बन्धी होनेसे भगवान् अथवा ब्रह्माके वाक्य उदाहरण स्वरूप नहीं दिए हैं. श्लोकमें 'आर्षभाणां च संवादम्' यहां जो 'च' शब्द दिया है जिसके देनेका आशय आचार्यश्री प्रकट करते हैं कि, इस संवादमें ऋषभके पुत्र और विदेह राजा दोनोंकी प्रधानता है, अर्थात् दोनोंकी प्रधानता दिखानेकेलिए 'च' दिया है. यह निमिराजा नवम् स्कन्धमें कहे हुए 'निमि'राजासे अन्य है, इसलिए इसमें लोचन प्रतिष्ठितपनका दूषण नहीं आता है, श्रोताके वंशके वर्णनका यहां प्रयोजन न होनेसे केवल उसकी(श्रोता, राजाकी) ही उत्तमतादि दिखानेकेलिए कहा है कि राजा उस समय यज्ञमें स्थित था, इससे यह भी प्रकट किया है कि राजाको देहका अभिमान नहीं था एवं भगवान्में ही चित्त पिरोया हुआ था. यह वंश वह है जहां अपने धर्मका

आविर्भाव किया है, इस वंशमें शुक वंशकी तरह यह आविर्भाव व भगवान्के षड्गुणोंसे छःमें हुआ है, सातवीं कक्षा भगवान्के धर्मकी प्रतिपादिका है।।१४।।

प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिर्ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः।।१५।।

श्लोकार्थः स्वायम्भुवमनुके पुत्र प्रियव्रतको आग्नीध्र नामवाला पुत्र हुआ उस आग्नीध्रसे 'नाभि' उत्पन्न हुआ, 'नाभि'का पुत्र ऋषभ हुआ।।१५।।

व्याख्यार्थः षट् धर्मोंका वर्णन करनेकेलिए ही, ऋषभके पूर्वज षट् पुरुषोंको कहा है. यह प्रियव्रत वह है, जिसका वर्णन पञ्चम स्कन्धमें आया है।।१५।।

तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया।
अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद् ब्रह्मपारगम्।। १६।।

श्लोकार्थः मोक्षधर्म कहनेकी इच्छासे अवतार धारण किए हुए ऋषभ देवको 'वासुदेव भगवान्का अंश है' ऐसा कहते हैं, उस(ऋषभदेव)को, वेदोमें पारंगत अर्थात् वेदोंके तत्त्वको पूर्णरूपसे जाननेवाले एक सौ पुत्र हुए।।१६।।

व्याख्यार्थः उन सातोंकी उत्पत्तिका वर्णन करते हुए प्रथम पिताका माहात्म्य प्रकट करनेकेलिए 'तं' पद दिया है. उन सौ पुत्रोंमें उनकी उत्पत्ति और वेदाध्ययन जो कहा है वह साधारण है. भगवद्धर्म तो १०० और उनसे भी उत्तम एवं अधिक है, उनमें ९ की उत्पत्ति तो नव प्रकारकी भक्तिरूपसे हुई है।।१६।।

आभासार्थः इनमें कोई भी प्रवाहमार्गी नहीं है ऐसा कहनेकेलिए स्वरूप एवं कार्य से पुष्टिमार्गमें जो स्थिति है उनका वर्णन करते हैं. स्वरूप और नामकी उत्तमता दिखाते हुए प्रथम स्वरूपका वर्णन 'तेषां वै' श्लोकमें करते हैं:

तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः।
विख्यातं वर्षमेतद् यन् नाम्ना भारतम् अद्भुतम्।।१७।।

श्लोकार्थः उन एक सौ पुत्रोंमें ज्येष्ठ पुत्र भरत, नारायणके परायण भगवद्भक्त हुए जिनके उत्तम नामसे 'अजनाभ खण्ड'का नाम 'भरत खण्ड' प्रसिद्ध हुआ है।।१७।।

व्याख्यार्थः भगवान्में परायण होना स्वरूपोत्कर्ष है, जिसके नामसे बड़ोंका भी नाम प्रसिद्ध होवें वह नामोत्कर्ष है, भरत भगवत्परायण थे, इससे उनकी स्वरूपसे उत्कर्षता थी, 'अजनाभ' नामका बड़ा खण्ड, भरतजीके नामसे

भरतखण्ड प्रसिद्ध हुआ, जिससे भरतके नामसे भी उत्कर्षत्व है, ज्येष्ठ(बड़े)की उत्तमताके वर्णनसे सब उत्तम है यह बताया है।।१७।।

आभासार्थः कार्य दिखानेकेलिए 'स भुक्तभोगां' श्लोक कहते हैं:

स भुक्तभोगां त्यक्त्वेमां निर्गतस्तपसा हरिम्।
उपासीनस्तत्पदवीं लेभे वै जन्मभिस्त्रिभिः।। १८।।

श्लोकार्थः भरतजी इस पृथ्वीके भोगोंको भोगकर, तदनन्तर उनका त्यागकर गृहसे निकल गए और तपद्वारा हरिकी उपासना करते हुए तीन जन्मके अनन्तर उन्होंने भगवदीय पदवीको प्राप्त किया।।१८।।

व्याख्यार्थः भगवान्ने राजर्षि भरतमें ही १. बद्ध, २. मुमुक्ष और ३. मुक्तावस्था, प्रदर्शित की है, तीनोंका यह ही रूप और यह ही क्रिया है. भरतमें प्रवृत्तिधर्म तथा निवृत्तिधर्म भगवदिच्छासे ही उत्पन्न(प्रतिबद्ध) हुए हैं, जो जीव नारायणके परायण हैं, उसको धर्म निष्ठा प्रयोजक नहीं होती है, अर्थात् भगवद्भक्तोंको धर्म निष्ठा भक्तिमें वृद्धि नहीं कराती है, उनकी भक्ति वृद्धि भगवत्कृपा एवं इच्छासे ही होती है, क्योंकि भगवद्भक्तोंका एक नारायण ही शरण(रक्षक) है, ऐसी उनकी दृढ़ आस्था होती है. 'पदवीं लेभे' पदसे यह तात्पर्य प्रकट किया है कि इससे आगे विशेष कोई गति नहीं है, 'नारायण पराः सर्वे' इस वचनसे यही सिद्ध है कि उनकी गति नारायण ही है, अन्य कोई नहीं. राजर्षि थे, इसलिए पृथ्वीके सर्वभोग भोगते थे, किन्तु भगवदिच्छा एवं कृपा हुई तब निकल गए. 'भुक्तभोगां' विशेषणसे यह युक्ति पूर्वक सिद्ध किया है कि भगवदिच्छासे जितने भोग भोगने थे वे भोग लिए, अब उनको छोड़कर चले गए. 'निर्गतः' पदसे यह सूचित किया है कि भरतने संन्यास ग्रहण नहीं किया था. यदि संन्यास ग्रहण किया होता तो हरिणके संगसे पतन हो जाता आगे न बढ़ सकते थे।।१८।।

आभासार्थः नौसे पृथक् जो बाकी थे उनका भी मर्यादामें विनियोग हुआ है, यों 'तेषां नव' श्लोकमें वर्णनकर सिद्ध करते हैं:

तेषां नव नवद्वीप–पतयोऽस्य समन्ततः।
कर्मतन्त्रप्रणेतार एकाशीतिर्द्विजातयः।। १९।।

श्लोकार्थः ९९(पुत्रों)मेंसे नौ, भरतखण्डके चारों तरफ जो नौ द्वीप हैं, उनके अधिपति हुए. ८१ वेदके कर्मतन्त्र अर्थात् प्रवृत्तिमार्गके प्रवर्त्तक ब्राह्मण हुए।।१९।।

व्याख्यार्थः भरतजीके सिवाय जो ९९ रहे, उनमेंसे भरतखण्डके आस पासके नौ द्वीपोंके वे अधिपति हुए, शेष ८१ मर्यादामार्गके प्रवर्त्तक हुए, अर्थात् नव पुत्रोंने कर्मतन्त्र(राज्य तन्त्रद्वारा)की रचनाकर रूपमर्यादाकी रक्षाकी. ८१ वें पुत्रोंने कर्म मर्यादाकी रक्षा की है, रूपमर्यादाकी रक्षामें ९ प्रकार इस तरह होते हैं. आठ दिशाएं और एक मध्य भाग मिलकर ९ प्रकार हुए हैं, एवं सत्त्व, रज तथा तमके मिश्रणसे ९ प्रकार बनते हैं, वे प्रकार कर्त्ता तथा कर्ममें प्रविष्ट होनेसे ८१ होते हैं, इस प्रकार ये ८१ मर्यादामें स्थित हुए, कर्म मर्यादामें वेदनिष्ठ बनकर क्रिया काण्डका प्रचारकर कर्म मर्यादाकी रक्षा की है. इसी तरह ये ८१ क्षत्रियके पुत्र होकर भी द्विजाति ब्राह्मण कहलाये. यद्यपि ब्राह्मणसे उत्पन्न न होनेसे जन्मसे ब्राह्मण जातिके नहीं थे, किन्तु इनमें ब्राह्मण्य देवताका आविर्भाव हुआ था, जिससे ये वैदिक कर्म यजन याजन आदिके प्रचारक ब्राह्मण कहलाये(यह एक विशेष नियम है कि जिसमें भगवदिच्छासे ब्राह्मण्य देवताका प्रादुर्भाव हो वह ब्राह्मण हो सकता है, इसी तरह क्षत्रिय देवता भी जिसमें प्रकट हो तो वह उस समय क्षत्रिय कहलाता है, क्योंकि उस देवताके प्राकट्यसे वह उस समय क्षात्र धर्म कर्ता होनेसे क्षत्रिय है, जैसे परशुराम जातिसे क्षत्रिय नहीं थे, इस तरह ब्राह्मण आदि भी समझने चाहिए, तात्पर्य यह है कि जाति और देवताका विषय पृथक्-पृथक् है, ब्राह्मण जातिके देहमें ब्राह्मण देवताका आविर्भाव परम्परासे वीर्यद्वारा होता ही है, विशेष अवस्थामें क्वचित् ब्राह्मणदेवताका प्राकट्य होता है अतः वे जातिसे ब्राह्मण नहीं हैं. इत्यलम्)।।१९।।

'अस्य' पद भरतखण्डके आगे, पासमें स्थित भूमिका सूचक है अथवा बुद्धिस्थ भरतका सूचक है.

नवाभवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः।
श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः।।२०।।

श्लोकार्थः शेष बचे हुए नव(नौ) महाभाग्यशाली परमार्थ तत्त्वके उपदेशक, भगवद्धर्मप्रचारार्थ परिश्रम करनेवाले परम भगवदीय, अपरिग्रही(कुछ भी संग्रह न करनेवाले) परम हंस हुए।।२०।।

व्याख्यार्थः ये शेष ९ ज्ञानभक्ति सम्पन्न महान् भगवदीय मुनि भागवतधर्मके इसी तरह द्रष्टा हुए जैसे मन्त्र द्रष्टा ऋषि हुए हैं, यह द्रष्टत्व अलौकिक था, जिसकेलिए ६ हेतु कहे हैं.

१. 'महाभागाः' इस हेतुसे यह सिद्ध किया है कि ये सब समान

स्वभाववाले थे. लोकमें भागवतधर्म भी निधि है अतः उसकी रक्षा भी वैसी ही होती है. ये नौ नवधा भक्तिरूप हैं अर्थात् नौ प्रकारकी भक्ति इन नवों रूपोंमें प्रकट हुई है. प्राप्त हुई निधि अज्ञानसे अथवा अशक्तिके कारण नष्ट हो जाती है तो यह भी नष्ट हो जाएगी, इस भ्रमके निवारणार्थ तीन विशेषण दिए हैं.

२. 'मुनयः' ये मननशील होनेसे पूर्ण रीतिसे उसकी देख-रेख करनेवाले हैं जिससे इनको जो प्राप्त होता है उसको नष्ट होने नहीं देते हैं.

३. 'अर्थ शंसिनः' इस पदसे यह सूचित किया है कि ये नव, वसुकी तारतम्यताको पहचाननेवाले हैं अतः जो परमार्थरूप वस्तु है, उसकी प्रशंसा करते हैं एवं उसको ही ग्रहण करते हैं. योगबलसे जो कुछ देखा है केवल उसकी प्रशंसा नहीं करते हैं, अतः धर्मोंको सम्यक् प्रकारसे धारण करनेके कारण उनका उपदेश भी कर सकते हैं.

४. 'श्रमणाः' इन नवोंमें पूर्ण परिश्रम करनेकी शक्ति है, जिससे इनका मन, वाणी तथा कर्म भगवदर्थ ही है, एवं इनमें कभी भी प्रमाद उत्पन्न नहीं होता है, कारण कि, अज्ञानी होते ही नहीं हैं.

५. 'वातरशनाः' और ६. 'आत्मविद्या विशारदाः' इन दो विशेषणोंसे सूचित किया है कि इनमें कभी भी अशक्ति(अज्ञान) उत्पन्न नहीं होगा, कारण कि, ये परिग्रह करनेवाले नहीं होंगे, जिससे उनके अन्तःकरणमें व्याकुलता क्षोभ कुछ भी नहीं रहेगा एवं आत्मविद्या(यह सर्व आत्मा ही है ऐसी विद्या) प्रवीण होनेसे भी इनमें अज्ञान या द्वैत न होनेसे देहाध्याससे रहित होंगे. यदि अपरिग्रह करते हुए भी देहाध्यास रह जावे तो भी व्याकुलता एवं क्षोभ नष्ट नहीं होता है, अतः ये देहाध्यास रहित, अपरिग्रही तथा आत्मविशारद परमार्थवस्तुको पहचानकर आचरण एवं उपदेश करनेवाले प्रमादरहित, महाभाग्यशाली परम हंस स्थितिवाले नौ योगेश्वर हुए।।२०।।

कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलः चमसः करभाजनः।। २१।।

श्लोकार्थः १. कवि, २. हरि, ३. अन्तरिक्ष, ४. प्रबुद्ध, ५. पिप्पलायन, ६. आविर्होत्र, ७. द्रुमिल, ८. चमस और ९. करभाजन इन ९ योगेश्वरोंके ये नाम थे।।२१।।

व्याख्यार्थः गुरुके नामकी पहचान हो तदर्थ उनके 'कवि' आदि नाम कहे

हैं. श्लोकमें 'अथ' पद प्रकरणको पृथक् करता है, इस विषयको ''तस्मात् भारत सर्वात्मा'' श्लोककी व्याख्यामें निरूपण किया है विस्तारके भयसे यहां नहीं कहा जाता है।।२१।।

आभासार्थ: ज्ञान एवं वैराग्य द्वारा उनका आश्रमधर्म दो श्लोकोंसे कहते हैं, उसमें प्रथम ज्ञानसे परिभ्रमणका वर्णन करते हैं:

त एते भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम्।
आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तो व्यचरन् महीम्।। २२।।

श्लोकार्थ: वे, ये नव योगेश्वर, सहसद्रूप विश्वको आत्मासे अभिन्न अर्थात् भगवद्रूप देखते हुए पृथ्वीमें विचरने लगे।।२२।।

व्याख्यार्थ: 'त एते' पदोंके स्वारस्यको प्रकट करते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि ज्ञानीयोंको एकाकी परिभ्रमण करना चाहिए, कारण कि, उनकेलिए शास्त्रोंमें संघ परिभ्रमण निषेध है, फिर ये जो संघ परिभ्रमण करते हैं सो क्यों? इस शंका निवारणार्थ 'त एते' विशेषणोंसे बताया है कि ये वे हैं जिनको भगवद्धर्मका दर्शन हुआ है, अत: वे संघमें परस्पर भगवद्धर्मोंकी ही चर्चा करते हैं, इसलिये इनका संघ परिभ्रमण किसी प्रकार बाधक नहीं है, वैदिकज्ञान और भागवतज्ञान दोनों यद्यपि एक प्रकारके ही हैं, तथापि भागवतज्ञान भगवत्वके[1] कारण विशेष है, साङ्ख्य ज्ञानमें विकल्प दूर करनेसे एक रूपका(मैं ब्रह्मका ही रूप हूं ऐसा) अनुभव होता है, योगमें तो जब बाहर कुछ भी देखनेमें नहीं आता है तब एकरूप ज्ञान होता है, इस विषयमें वैदिक और वैष्णव सिद्धान्तमें ब्रह्मका तीन प्रकारसे निरूपण है. १. ब्रह्म, २. जीव और ३. जगत्के प्राधान्य भेदसे जिसको समझते हैं कि प्रथम जगत्की प्राधान्यताके स्वरूपका वर्णन करते हैं. अनन्तमूर्ति भगवान्का एक कार्य रूप है जिसको 'जगत्' कहते हैं, वह रूप बुद्धिमें द्वैतका हेतुभूत बनता है, वह व्यवस्था[2] सदसद्रूप नहीं है सर्वत्र समग्र जगत्में ब्रह्म दर्शन करावे तब इस प्रकारका जगत् प्राधान्यज्ञान है. न केवल इतना ही किन्तु इस जगत्प्राधान्यज्ञानमें अपना भी भेद नहीं रहता है. आत्माका व्यतिरेक बिना दर्शन होनेसे परिभ्रमणके समय भी ब्रह्मनिष्ठपन रहता है, इसलिये ऐसे ज्ञान को जगत् प्राधान्यज्ञान कहा जाता है।।२२।।

१. भगवत्सम्बन्धी होनेसे, २. व्यवहारिक और परमायिक सत्तासे नहीं है, किन्तु सर्वत्र सदसद्रूपसे भगवान् ही विद्यमान रहे हैं, ऐसी व्यवस्था.

आभासार्थ: इस 'अव्याहतेष्टगतय:' श्लोकमें वैराग्यका वर्णन करते है:

अव्याहतेष्टगतयः सुरसिद्धसाध्य–गन्धर्वयक्षनरकिन्नरनागलोकान्।
मुक्ताश्चरन्ति मुनिचारणभूतनाथ–विद्याधरद्विजगवां भुवनानि काममम्।।२३।।

श्लोकार्थ: ये योगेश्वर जो भगवद्धर्मरसमें निमग्न हैं, वे बिना किसी प्रकारकी रुकावटके सुरलोक, सिद्धलोक, साध्यलोक, गन्धर्व, यक्ष, नर, किन्नर, नागलोक एवं मुनि, चारण, भूतनाथ विद्याधर, द्विज और गौओंके लोक इस प्रकारके १४ लोकोमें उनके गुणोमें बद्ध न होकर मुक्त ही स्वच्छन्दतासे विचरण कर रहे हैं।।२३।।

व्याख्यार्थ: वैराग्य भी तीन प्रकारका होता है, १. व्यामोह करनेवाले (विषयोंका दूरसे ही त्याग करना), २. भीतरमें जो विषय दृढतासे प्रवेश कर जाते हैं उनकी अपेक्षा कर देना. विषयोंमें रागका अभाव हो जावे ऐसा सदैव अनिषिद्ध प्रकारसे अनुभव हो जाना. इसी प्रकार जो वैराग्यके तीन प्रकार हैं, उनमेंसे इन योगेश्वरोंमें तीसरे प्रकारका वैराग्य स्थिर था, क्योंकि, वे भगवद्धर्मके रसमें निमग्न हो गये थे, सिद्धियोंके अंगीकृत होनेसे जिनकी गति कहीं भी रुद्ध नहीं होती है. लोकोंकी गणना १४ लोकोंके अभिप्रायसे की गई है, उन लोकेमें विचरणसे जो गुण सम्बद्ध हो जाते हैं इसलिये 'मुक्ता:' विशेषण देकर कहा है कि उन गुणोंसे ये सम्बद्ध नहीं हुए थे, स्वच्छन्द होकर बिना उद्वेगके विचरण कर रहे थे इसलिये 'काममम्' पद दिया है. उद्वेग न होनेका कारण यह था कि वे सदैव भगवदिच्छाके ही परिपालक थे।।२३।।

आभासार्थ: 'त एकदा' श्लोकमें दिखाते हैं कि भारतमें जो यज्ञ करने वाले हैं उनका अन्त:करण शुद्ध हो जानेसे वे भगवद्धर्मके जाननेकी इच्छावाले होते हैं, योगेश्वरोंको ऐसी आज्ञा थी, भगवद्धर्मको जाननेकी इच्छावालोंको भगवद्धर्म उपदेश हो, ऐसी आज्ञाके पालनार्थ निमिके यज्ञमें आये:

त एकदा निमेः सत्रम् उपजग्मुर्यदृच्छया।
वितायमानमृषिभिः जायन्तेया महात्मनः।। २४।।

श्लोकार्थ: किसी कालमें जयन्तीके पुत्र वे महात्मा अपनी स्वन्तत्र इच्छासे उस निमिके यज्ञमें गये जिसका विस्तार ऋषिलोग कर रहे थे।।२४।।

व्याख्यार्थ: 'यदृच्छया' पदसे यह सूचित किया है कि सर्वथा वहां जाना ही चाहिये ऐसा आग्रह नहीं हैं, अर्थात् जब भगवदिच्छा हुई, तब गए. सत्रकी

पद्धति वेदानुसार ऐसी रखी गई है जिससे आनेवाले महात्माओंको उपदेशार्थ अतिरिक्त काल मिल जाता है,(जैसे कि तैत्तिरीय संहितामें ''षडहैर्मासान् सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति'' इस मन्त्रमें कहा है कि ६ दिनोंसे मासोंका सम्पादनकर एक दिवस अतिरिक्त पृथक् कर देते हैं) इसका परिज्ञान योगेश्वरोंको था, अत: भगवदिच्छासे भगवदाज्ञा परिपालनार्थ अर्थात् राजाके समीप भगवद्धर्मके उपदेशार्थ वहां पधारे. इस यज्ञका विस्तार ऋषि कर रहे हैं, इसलिये यहां कोई विधर्मी नहीं होगा. 'जायन्तेया:' विशेषणसे जानेका औचित्य बताया है, राजा निमि भाग्यशशाली है, अत: निमिकेलिए 'महात्मन:' विशेषण दिया है।।२४।।

आभासार्थ: २५ श्लोकोमेंसे तीन श्लोकोमें क्रमसे समागम, पूजन और प्रश्न कहे हैं:

तान् दृष्ट्वा सूर्यसंकाशान् महाभागवतान् नृप:।
यजमानोऽग्नयो विप्रा: सर्व एवोपतस्थिरे।। २५।।

श्लोकार्थ: सूर्य सम प्रकाशवाले उन महान् भगवद्भक्तोंको देखकर राजा, यजमान, अग्नि[१] तथा विप्र ये सब ही खड़े हो गये।।२५।।

१. आह्वनीय अग्नि, आधिदैविक स्वरूप प्रकट करना.

व्याख्यार्थ: यज्ञमें पधारनेको 'समागम' कहते हैं, वे ब्रह्मवेत्ता एवं महाभागवत थे, इन गुणोंके कारण लोकनीतिके अनुसार राजा निमिका उठकर खड़ा हो जाना उचित था, तथा निमि यज्ञमें यजमान भी था, आये हुए ये ब्रह्मवेत्ता थे. अत: उनके आनेपर यजमानको खड़ा होना योग्य है, महाभागवत थे इसलिये अग्नि तथा विप्रोंको भी उठना आवश्यक था, यज्ञमें जो अन्य थे वे भी सहभावसे खडे हो गये, इस प्रकारके समादरसे इनका उत्कर्ष स्वाभाविक है, यों प्रतिपादन किया गया है।।२५।।

विदेहस्तान् अभिप्रेत्य नारायणपरायणान्।
प्रीत: सम्पूजयाञ्चक्रे आसनस्थान् यथार्हत:।। २६।।

श्लोकार्थ: नारायणके परायण राजा विदेह, उनको भगवद्भक्त तथा ब्रह्मवेत्ता हैं ऐसा जानकर प्रसन्न हुआ, अत: उनने यथा-योग्य आसनों पर विराजमानकर उनकी पूजा की।।२६।।

व्याख्यार्थ: राजाको इनका ब्रह्मत्व और भगवदीयपनका ज्ञान था, अत: राजाको भी विदेह और नारायण-परायण दो विशेषण देकर इनके पूजा

समादरकेलिए योग्य बताया है, ऐसा राजा इनको देखकर प्रसन्न हुआ, इससे यह सिद्ध है कि उनमें जो गुण हैं वे सब, राजाने जान लिये हैं, इन कारणोंसे जैसे भगवान्का पूजन किया जाता है उसी तरह सम्यक् प्रकारसे पूजन किया, पूजित होकर वे चले नहीं गये और न राजाने उन्हें बिदा दी, कारण कि, इनको उपदेश देनेकेलिए स्थित होना था और राजाको उपदेश सुनना था, अतः उनको विराजनेकेलिए आसन दिये, जिन पर वे विराजे, अतः 'आसनस्थान्' कहा है, जैसी योग्यता थी वैसे जानकर क्रमसे यथा रुचि पूजादिके पदार्थ अर्पण किये, तथा उनसे उनकी पूजा की, यह भी उनका उत्कर्ष है।।२६।।

तान् रोचमानान् स्वरुचा ब्रह्मपुत्रोपमान् नव।
पप्रच्छ परमप्रीतः प्रश्रयावनतो नृपः।। २७।।

श्लोकार्थः अपने तेजसे प्रकाशमान् एवं रुचि उत्पन्न करनेवाले उन नव ब्रह्म पुत्रोके दैन्यसे नम्र राजा परम प्रसन्न हो पूछने लगा।।२७।।

व्याख्यार्थः जिन विषयोंके प्रश्न करने हैं उनके उत्तर देनेमें ये समर्थ हैं, अतः मेरे प्रश्नोंका उत्तर ये दे सकेंगे, अर्थात् भागवतधर्म पूरे प्रकारसे समझा देंगे. इनमें जो रुचि उत्पन्न करनेवाली कान्ति है, जिसका कारण यह है कि ब्रह्मविद् होनेके साथ इनमें भागवतधर्मका ज्ञान भी है, जब पिताने एवं स्वयंने मनसे सनकादिकोंको गुरूपनसे स्वीकार किया है तो फिर उनका अतिक्रमण कर इनसे प्रश्न कैसे कर रहे हैं? ऐसी शंकाके निवारणार्थ कहते है कि ये नव योगेश्वर भी उन सनकादिकोंके समान ही हैं, जिससे श्लोकमें इनके लिये 'ब्रह्मपुत्रोपमान्' विशेषण दिया है. यदि कहो, कि तो भी उनका अतिक्रमण कर इनसे पूछना उचित नहीं है, जिसका उत्तर दिया है कि जब ४ सनकादि वैकुण्ठस्थ होनेसे यहां दुर्लभ हैं तो नवकी प्राप्ति तो असम्भव सी है, अतः जब भगवदिच्छासे ऐसा अवसर मिल गया है तो उसे त्याग देना मूर्खता है. पुरातन कालका यह मनोरथ है, कि हम भागवतधर्म पूछकर उनका ज्ञान प्राप्त करेंगे. वह मनोरथ इनसे अब सिद्ध होगा. इस कारणसे कहा है कि 'परमप्रीतः' राजा निमि, बहुत प्रसन्न हुए. प्रश्न करने ही चाहिये ऐसी आसक्ति हो गई है, दैत्यसे नम्रता युक्त प्रश्न करने लगा, जिससे प्रश्न निरर्थक नहीं जायेंगे, अवश्य फलीभूत होंगे, अर्थात् योगेश्वर उत्तर देकर मेरा मनोरथ पूर्ण करेंगे. 'नृप' पद देकर यह सूचित किया है कि निमिमें देशकालादिका सर्व प्रकारका चातुर्य था, इस तरह प्रश्न पर्यन्त नारदोक्ति कही है।।२७।।

जनक उवाच

मन्ये भगवतः साक्षात् पार्षदान् वो मधुद्विषः।
विष्णोर्भूतानि लोकानां पावनाय चरन्ति हि।।२८।।

श्लोकार्थ: जनक कहने लगे कि मैं इस विषयको जानता हूं कि आप मधुसूदन भगवान्के साक्षात् पार्षद हैं, एवं भगवान्से ही उत्पन्न हुए सेवक हैं, लोगोंको पवित्र करनेकेलिए विचरण कर रहे हैं।।२८।।

व्याख्यार्थ: राजा दो श्लोकोंसे इनका अभिनन्दन करते हैं, और दो श्लोकसे लब्ध परिपालन और अलभ्यलाभ इन दो प्रकारसे प्रश्न करते हैं.

इसमें प्रथम ये नौ ही भगवान्के सेवक हैं, अत: इनकी प्रशंसा करते हैं, कि मैं जानता हूं, कि आप भगवत्सेवक भी हैं, जिनका ज्ञान आपके दर्शन मात्रसे हो गया है. साधारण भगवत्सेवक भी आप नहीं हो, किन्तु परमहंस वैष्णव हैं, इसलिये आपके गोत्र आदि पूछनेमें किसी प्रकार पुरूषार्थ नहीं किया जाता है, आपकी स्तुति ज्ञानी होनेसे नहीं की जाती है, कारण कि ज्ञान तो ब्राह्मणोंका सहजधर्म है ही उसकी स्तुति कैसे की जाय? प्रशंसा तो उस धर्मके कारण की जा सकती है, जो सम्पादन किया जाता है. परमहंस वैष्णव धर्म आपने सम्पादन किया है. जिससे आपकी स्तुति की जाती है, जो उचित ही है, आप क्यों पधारे हैं? इसमें यह शंका होती है कि आप अपना स्वार्थ सिद्ध करने आये हैं या दूसरोका कल्याण करने आये हैं? अपने स्वार्थकेलिए पधारे हैं यह संदेह तो दर्शन मात्रसे निवृत हो गया. यदि कहा जाय कि परार्थकेलिए पधारे हैं तो परहितकेलिए किसीकी भी स्वत:(अपने आप) प्रवृत्ति नहीं होती है, किसीकी प्रेरणासे यह प्रवृत्ति हुई है, अतः भगवान्की प्रेरणासे ही हम लोगोंके उद्धारार्थ आप पधारे हैं यों मैंने समझा हैं. बहिरंग सेवक राजसवेष धारण करते हैं. आप वैसे नहीं अर्थात् बहिरंग सेवक नहीं हैं अत: राजसवेष धारण नहीं कर निर्गुणवेष धारणकर आपने अपना परम हंस वैष्णवत्व प्रदर्शित किया है, जो राजसवेषधारी सेवक हैं वे स्वतन्त्र नहीं हैं, इसलिये उनसे सर्व कार्य सिद्ध नहीं होता है, कृत्रिम वैकुण्ठादिसे निवास करनेवाले सनकादिक तथा जो अन्य हैं उनमेंसे कितने पार्षद संगमें जाते हैं, किन्तु आप नहीं जाते हैं. इसलिये कहा है कि 'साक्षात्' अर्थात् आप सबमें 'मुख्य' हैं, कारण कि भगवान्के श्रीअंगसे प्रकट हुए हैं. यह पार्षदत्व किस समय प्राप्त हुआ? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि जब भगवान्ने हयग्रीवावतार धारणकर

मधु, कैटभ दैत्योंको मारकर ब्रह्माको वेद लाकर दिये थे उस समय सब महान् पुरूषोंको सिद्धियोंके प्राप्त करनेका अवसर मिला था. इस कारणसे उनका वचन किसी भी शास्त्रसे विरुद्ध नहीं है. यों जताया है. कार्यकेलिए भगवदाज्ञासे यहां आनेकी सम्भावना होने पर भी परिभ्रमण उचित नहीं है, इस प्रकारकी शंका निवारणार्थ कहा है कि 'विष्णोर्भूतानि' आप विष्णुके अंगसे उत्पन्न हुए हैं, अत: पालक(विष्णु)के सेवक जिसको अपनाते हैं उनको अपने समान करते हैं, भगवान्के भूत अथवा भगवान्से उत्पन्न गंगाके समान सबको पवित्र करनेकेलिए परिभ्रमण करते हैं. इस विषयमें किसी प्रकार सन्देह नहीं है. इसमें गंगाजी प्रत्यक्ष उदाहरण विद्यमान हैं. इसलिये 'हि' पद देकर निश्चय कराया है. इसका सारांश यह है कि भगवान्ने ही आपको उत्पन्न कर सर्व हितार्थ यहां भेजा है. इनकी प्रशंसा भगवद्धर्मपनसे की गई है, न कि, ज्ञान आदिके कारणसे।।२८।।

आभासार्थ: गंगाजीसे भी इन नौ भगवदीय योगेश्वरोंकी दुर्लभता एवं अधिकता इस 'दुर्लभो' श्लोकमें प्रतिपादन करते हैं:

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्।। २९।।

श्लोकार्थ: देहधारियोंको मानुषदेहकी प्राप्ति दुर्लभ है फिर वह देह क्षणभंगुर है, ऐसी क्षणमें टूट जानेवाली मानुष देहमें भी भगवान्के प्यारे भगवदियोंका दर्शन होना तो और भी दुर्लभ है।।२९।।

व्याख्यार्थ: 'बहुत[१] दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर' इस न्यायसे यह इसलिए दुर्लभ है कि, इस जन्ममें ही मनुष्य स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त कर सकता है, क्योंकि यह मनुष्य जन्म वहां जानेका द्वार है. इसलिए इस जन्ममें स्वर्ग और मोक्ष प्राप्तिके प्रयत्न करने चाहिए. मनुष्य जन्म इनकी[२] प्राप्तिकेलिए वैसा साधन है जैसा नदीसे पार जानेकेलिए नौका साधन है किन्तु जैसे नाविक होने पर ही नौका पार पहुंचाती है वैसे ही मनुष्यजन्मरूप नौका भी तभी पार पहुंचाती जब गुरुरूप नाविक मिल जाता है. अन्यथा फलसिद्धि नहीं होती है अर्थात् स्वर्ग या मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती है. इस विषयमें प्रत्यक्ष बाधाकी शंका नहीं करनी चाहिए. प्रत्यक्ष हेतु स्वरूप और फलोंसे ही वह सिद्धि होती है, हेतु अप्रत्यक्ष ही है, फल भी प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि साधनका अभाव है. स्वरूपसे भी दुर्लभता है कारण मानुषदेहकी प्राप्ति दुर्लभ है. प्रवासी घूमते-घूमते विषम नदीमें नौका प्राप्त हो जाने पर भी यों नहीं

कहते हैं कि नौका सुगम प्राप्त हुई है क्योंकि जानते हैं कि बहुत परिश्रम एवं पर्यटनके बाद नौका प्राप्त हुई इसी तरह यह मानव देहरूप नाव भी चौरासी लाख योनियोंमें भटकनेके बाद प्राप्त हुई है. इस युक्तिसे शंका निवारण करना चाहिए. देहाभिमानी तामस होनेके कारण राजस मानुषदेह दुर्लभ है, तथा क्षणमें नाश हो जाती है प्रारब्ध नष्ट हुआ तो फिर देह रह नहीं सकती है. प्रथम मानव देहकी प्राप्ति दुर्लभ है फिर उसमें भगवान्‌के प्यारे भगवदीयोंकी प्राप्ति महा दुर्लभ है यदि भगवदीयोंका संग दर्शन न मिले तो मानव देहकी प्राप्ति व्यर्थ और अनर्थका हेतु हो जाती है, यह विषय लोकमें प्रसिद्‌ध नहीं है तो भी मैं अनुभवको प्रमाणरूप समझकर यों कहता हूं. भगवान् वैकुण्ठमें विराजमान होकर यहां अपने ही स्वरूप भगवदीयोंको सर्वस्वरूप अपने धर्मोंको देकर पृथ्वी पर इसलिए भेजते हैं कि मेरे बिछुडे हुए दैवी जीवोंको भगवदीय बनाके उनकी वृद्‌धिकर यहां भेजो, भगवान् उनके आनेकी वहां प्रतीक्षा कर रहे हैं. इसलिए भगवदीय भगवान्‌के प्यारे हैं, उन नाविकोंके दर्शन एवं संग बिना मानव देहरूप नौका पार नहीं पहुंचती है।।२९।।

१. लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं' इतिन्यायेन सु. २. स्वर्ग और मोक्षका.

आभासार्थ: इस प्रकारके भगवदीयोंके दर्शन फिर नहीं मिलेंगे इसलिए ऐसा अवसर छोड देना उचित नहीं. शीघ्र ही इस शरीरका उपयोगकर, मानव जन्म सार्थक कर लेना चाहिए. जो कुछ क्षेमार्थ पूछना है वह पूछते हैं:

अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः।
संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम्।।३०।।

श्लोकार्थ हे निष्पाप भगवदीयों! मानव देह और भागवतोंका अलभ्य सत्संग मिला है तब जिससे [१]आत्यन्तिक क्षेम मिले वह आपसे उपाय पूछते हैं।।३०।।

१. दुर्लभ देह मिली और दुर्लभ सत्संग भी मिला, देह क्षणभंगुर है, सत्संग भी असमय होता है किन्तु वह उपाय पूछता हूं जिससे ये दोनों हमको सदैव प्राप्त हों, इसको आत्यन्तिक क्षेम कहा जाता है.

व्याख्यार्थ: दुर्लभ ये दो प्राप्त हुवे हैं तो भी प्रारम्भ, पापोंका सम्भव है, जिससे केवल स्वतः हमारे शरीरसे कार्य सिद्‌धि नहीं होगी, इसलिए जब आपका उपदेशामृत प्राप्त होगा तब कार्यसिद्‌धि होगी. क्योंकि आप अनघ(निष्पाप) हैं, कार्यसिद्‌धि अर्थात् फल प्राप्तिमें कोई प्रतिबन्धक न होगा, कारण कि आप

[१]"विष्णोर्भूतानि' हैं. आत्यन्तिक क्षेमका उत्कर्ष कहनकेलिए 'कैमुतिक न्याय'से कहते हैं कि, इस संसारमें यदि सत्संग क्षणार्ध भी हो तो प्रतिबन्ध नष्ट होकर फल प्राप्ति स्वतः हो जाती है, क्योंकि सत्संग एक प्रकारसे निधि है. अतः जैसे निधि प्राप्त होने पर दरिद्रीकी दरिद्रता बिना परिश्रम या अन्य उपाय किये स्वतः मिट जाती है, वैसे ही क्षणार्ध भी सत्संग, स्वतः प्रतिबन्धोंको मिटाकर तत्काल [२]फल दे देता है, मनुष्यत्व ही अधिकारका सूचक है।।३०।।

१. विष्णु(पालक)से उत्पन्न हुए हैं, २. ज्ञान दानद्वारा संसार दुःखकी निवृत्ति कराता है.

धर्मान् भागवतान् ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम्।
यैः प्रसन्नः प्रपन्नाय दास्यत्यात्मानमप्यजः।।३१।।

श्लोकार्थः यदि हम उन धर्मोंके श्रवणके योग्य होवें तो भागवतधर्मोंको कहिये, जिन भागवतधर्मोंसे प्रसन्न होकर आत्म-निवेदियोंको, स्वयं अज होते हुए भी, अपनी आत्मा अर्पण करते हैं।।३१।।

व्याख्यार्थः 'योग' अर्थात् अलभ्यलाभार्थ प्रश्न करते हैं कि भागवत धर्मोंको कहिये, भागवतधर्म कभी भी प्राप्त नहीं हुए हैं अर्थात् सुने नहीं हैं. इस अलभ्यलाभ(भागवतधर्मों)का यदि परिपालन न किया जावे तो अलभ्यलाभ प्राप्त करनेका कोई प्रयोजन नहीं रहता है. यदि हमको अलभ्यलाभ(योग) भागवतधर्मोंको सुननेके योग्य समझते हैं तो कहिये. श्रोताका स्वरूप श्रवणके योग्य होनेसे दोनोंकी समानता होने पर ही धर्मोंका आत्यन्तिक क्षेमत्व सिद्ध होता है. धर्मोंकी योग्यता सिद्ध्यर्थ पूर्वसे भी उनका अधिक फलत्व बताते हैं. भागवत धर्मोंसे भगवान् प्रसन्न होते हैं, प्रसन्न हुए तो, भगवत्कृपा(अनुग्रह) होना नियत ही है. भागवत्धर्मोंके पालन करनेवालोंमें विशेष अधिकार इसलिये है कि वे प्रसन्न होते हैं अर्थात् आत्मनिवेदन करते हैं. जिसके करने पर भगवान् अजन्मा होते हुए भी अपनी आत्मा उनको अर्पण कर देते हैं, जो यह आत्मनिवेदन नहीं करते हैं भगवान् उनको अपनी आत्मा अर्पण नहीं करते हैं, कारण बिना कार्य नहीं होता है अतः भगवान्के अनुग्रह होनेमें तथा प्रेमपूर्वक आत्मनिवेदन करनेमें भागवतधर्म भी कारण है.

'वरं वृणीमहेऽथापि' चतुर्थ स्कन्धके तीसरे अध्यायमें प्रचेताओंने भगवान्से उनके प्रसन्न हो जाने पर भी वर मांगा है. 'अपि' शब्दसे यह बताया है कि भक्तसंग धर्मोंका अनन्य हेतु है. 'अज' पदका स्वारस्य यह है कि भगवान्

सम्बन्ध मात्रसे दान करते हैं, यों नही है, किन्तु स्वभाव ही भगवान्का ऐसा है कि प्रपन्नों(शरणागतों)को अपने स्वरूपका दान कर देते हैं. इस प्रकार दोनो प्रश्न सिद्ध हुए।।३१।।

आभासार्थ: 'एवं ते' श्लोकसे नारदजी वसुदेवजीको ध्यान देकर सुनने केलिए सावधान करते हैं:

श्रीनारद उवाच

एवं ते निमिना पृष्टा वसुदेव महत्तमाः।
प्रतिपूज्याब्रुवन् प्रीत्या ससदस्यर्त्विजं नृपम्।।३२।।

श्लोकार्थ: नारदजी वसुदेवजीको कहने लगे कि हे वसुदेव! इस प्रकार जब निमिने परम भगवदीय नव योगेश्वरोंसे पूछा, तब वे सदस्य तथा ऋत्विजों सहित राजाका अभिनन्दन कर प्रेमसे कहने लगे।।३२।।

व्याख्यार्थ राजाको अधिकारी बनाकर अनन्तर कहेंगे इस आशासे नारदजीने योगेश्वरोंको महत्तमाः विशेषण दिया है, जो परम भगवदीय हैं उनमें यह शक्ति है कि अनधिकारीको भी अपने प्रमेयबलसे वा संसर्ग मात्रसे अधिकारी बना सकते हैं.

ये योगेश्वर 'महत्तम' होनेसे प्रथम वसुदेवजीको अभिनन्दनद्वारा योग्य बनाते हैं, बादमें श्लोकमें 'पूज्यके पूर्व प्रति' उपसर्ग देनेका भावार्थ है कि ग्रन्थमें जो पूजन आदि नहीं कहा है वह भी समझना चाहिये, कि पूजन हुवा है, राजा अकेला ही नहीं है उसके साथ ऋत्विज और अन्य सदस्य भी हैं, अत: यहां सदस्य और ऋत्विजोंका यजमान(राजा)के साथ योग होनेसे इस प्रकारका आशय प्रकट किया गया है कि एक फल(मोक्ष) है और साधन(मानव देह और सत्संग) हैं।।३२।।

कविरुवाच

मन्येऽकुतश्चिद् भमच्युतस्य पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम्।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद् विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः।।३३।।

श्लोकार्थ: कवि योगेश्वरने कहा कि इस संसारमें नाशवान् देह पुत्रादिमें आत्मभाव होनेसे, जिस पुरुषकी सदैव आध्यात्मिक आदि तीन तापोंके कारण उद्विग्न बुद्धि रहती है, इससे मरण आदिका भय बना रहता है उसको इस भयसे एवं अन्य किसी प्रकारके भी भयसे छूटनेकेलिए अच्युत भगवान्के

चरणारविन्दकी नित्य(सदैव)सेवा करना ही उपाय है।।३३।।

व्याख्यार्थ: मानव देह तथा सत्संगकी प्राप्ति होने पर मुक्ति अवश्य होगी, इसलिए उसका क्या उपाय है? यह प्रश्न और दूसरा भगवद्धर्मोंका प्रश्न करना उचित है, जब बहुत वक्ता एक साथ हों, उस समुदायसे प्रश्न किया जाता है, तब प्रश्नके उत्तर देनेका भार मुख्यके उपर पड़ता है, अतः इन नवोंमें मुख्य बहुत निपुण एवं सर्व विषयमें कुशल 'कवि' नामवाले योगेश्वर थे. वे प्रथम प्रश्न(क्या उपाय है?) का उत्तर देने लगे.

भक्ति मार्गानुसार गोविन्द भगवान्की उपासना ही उपाय है. जिससे मनुष्य सर्व प्रकारसे निर्भय हो जाता है. ज्ञान और कर्म ये दोनों अपने प्रतिबन्धकोंको मिटा नहीं सकते हैं और साधकको जिस फलकी इच्छा है वह भी नहीं दे सकते हैं. क्योंकि उद्विग्नबुद्धिके कारण ज्ञानकेलिए जिस वैराग्यकी आवश्यकता है वह वैराग्य नहीं है तथा कर्म मार्गकेलिए जिस रागकी आवश्यकता है वह राग भी नहीं है. अतः ये दोनों निर्भय नहीं कर सकते हैं. यदि यों न होवे तो मृत्युसे भय न रहे, भय तो है; तब उससे बचनेके उपाय करते रहते हैं, फिर जन्म मरण न हो अर्थात् आवागमन मिट जावे यही मानव जन्मका फल है, वह न होनेसे सर्वथा भय बना रहता है, कर्म मार्गमें प्रवाहका बाधकपन है, ज्ञान मार्गमें विषयी(वैराग्य रहित)का अधिकार नहीं है, अतः चारों तरफसे उद्वेग नष्ट नहीं होता है, जिस कारणसे ज्ञान एवं कर्म भयको नहीं मिटा सकते हैं. इसलिए जिनकी इच्छा है कि सुगम उपायसे सर्वथा भय मिट जावे, उनकेलिए अच्युत भगवान्के चरणोंकी सेवा ही उपाय है. यदि सेवा नहीं की गई तो मानव देहकी प्राप्ति और सत्संगका मिलना, दोनों वृथा गये.सेवा ही उपाय है यों कैसे? इस पर कवि कहते हैं कि, 'मन्ये' मैं यों मानता हूं, मेरा यह विचार है जगन्नाथादि स्थानों पर जाकर वहां मरण पर्यन्त रहकर भगवत्सेवा प्रेम पूर्वक करनेवालेको किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती है, वहां गृहस्थ, देव और रोग कोई बाधक नहीं होंगे. इसलिए उसको कहींसे भी भय नहीं होता है, जिसका कारण है, कि च्युतिसे रहित प्रभुकी सेवा करनेवाले भी च्युति रहित हो जाते हैं. 'पादाम्बुज' पदसे अवतार आदि समझने चाहिए, यह भाव इससे जाना जाता है कि श्लोकमें अच्युत और पादाम्बुज पदोंका समास नहीं किया है. 'उपासना' पदका स्वारस्य है कि प्रभुकी सन्निधिमें रहकर जैसी योग्य हो वैसी पूजादि करना उपासना है, इस मानव देहमें यों समीप

रह नित्यसेवादि करना ही सहज उपाय है. यह देह वृक्षधर्मरूप होनेसे नाशवाली है ही, जिसमें आत्मबुद्धि अज्ञानसे हुई है. भगवत्सान्निध्य एवं सेवासे वह अज्ञान मिटकर विश्व ही आत्मरूप है ऐसी बुद्धि होकर फल प्राप्ति होती है. 'मृत्युरस्मादपैति' इस वाक्यानुसार सर्वांशेन मृत्यु टल जाती है. यह सब प्रारम्भसे अंत तक भगवान् एवं भगवदियोंके संगमें रहनेसे ही होता है, अन्य किसी उपायसे यों नहीं होता है।।३३।।

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये।
अञ्जः पुंसाम् अविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्।।३४।।

श्लोकार्थः भगवान्ने मूर्ख मानव भी शीघ्र आत्मस्वरूपको प्राप्त कर सके इसकेलिए जो उपाय कहे हैं उनको भागवतधर्म जान लो।।३४।।

व्याख्यार्थः दूसरे प्रश्नका उत्तर कहते हैं, भगवान्ने गीतामें दो प्रकारके भगवद्धर्म कहे हैं एक 'यत् करोषि'[१] इत्यादि दो श्लोकोंसे और दूसरा 'मन्मना भव'[२] श्लोकोंमें कहा है. इन दोनों धर्मोद्वारा मनुष्यको परम्परासे[३] तथा साक्षात्[४] भगवत्प्राप्तिरूप फल मिलता है. 'आत्मलब्धश्रृण्वन्ति' इन वचनोंसे दूसरोंने भी भागवतधर्म कहे हैं. भगवान्ने गीतामें सकल मार्गोंसे शरणमार्गकी सरलता बतानेकेलिए 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'का[५] उपदेश दिया है.

इसलिए भगवान्ने काया, वाणी और मनसे इकट्ठे वा पृथक् साक्षात् भगवत्फल देनेवाले वा भागवत्सम्बन्धी जो धर्म कहे हैं वे भागवतधर्म हैं. 'हि' पदसे यह सूचित किया है कि इन धर्मोंमें सर्वत्र निश्चयसे भगवान्का सम्बन्ध है. 'आत्मा' पदका अर्थ यहां 'भगवान्' है. 'अञ्जः पुंसामविदुषां' पंक्ति कहकर कर्मभक्ति और ज्ञानमार्गके सहकारका निषेध किया है और यह सूचित किया है, कि ये भागवतधर्म विद्वान् अथवा अनपढ़ दोनोंको शीघ्र भगवत्प्राप्ति कराता है. प्रपत्तिवाला पुरुष स्वतन्त्र है किसी अन्य साधनका किंकर नहीं बनता है. भागवतधर्म मात्र भगवत्प्राप्तिके उपाय हैं इस विषयकी सर्वत्र प्रसिद्धि है. इसकी सूचनार्थ दूसरा 'हि' पद दिया है.

सर्व प्रकारके प्रत्येक भागवतधर्म ही फलतः मुख्य भगवत्प्राप्तिके उपाय हैं, शेष वर्णाश्रम धर्म तथा 'मन सैवानुद्रष्टव्यः' आदिमें कहा हुआ ज्ञानमार्ग वा कर्मभक्ति भी भागवतधर्मके साहचर्यसे उपाय बन जाते हैं, इसमें संशय नहीं है।।३४।।

१. जो खाना, पीना आदि कर्म करता है वह मुझे अर्पणकर यदि करेगा तो कर्म बन्धनसे छूट मुझे पाएगा.

२. मेरेमें मन लगा मेरा भक्त बन, मुझे ही पूज, मुझे ही प्रणाम कर इत्यादि करनेसे मुझे पाएगा. ३. सत्वगुण वृद्धि होकर.

४. शीघ्र गुणवृद्धि बिना. ५. सर्वधर्मका त्यागकर केवल मेरी ही शरण ले.

आभासार्थ: ये भागवतधर्म सबसे उत्कृष्ट हैं, अतः प्रवाह और मर्यादा मार्ग इनमें बाधक नहीं हो सकते हैं, जिसका वर्णन 'यानास्थाय' श्लोकमें करते हैं:

यान् आस्थाय नरो राजन्! न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेद् न पतेद् इह।।३५।।

श्लोकार्थ: हे राजन्! जिस जीवने इन भागवतधर्मोंसे पूर्ण दृढ़ आस्था की है, वह कभी भी प्रवाह वा मर्यादाके कारण भूल नहीं करता है. जिससे वह इस भगवदीयमार्ग पर आंखे बन्दकर दौड़ता हुआ जाता है तो भी उसका स्खलन वा पतन नहीं होता है. अर्थात् भगवत्प्राप्तिमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं आती है. वह शीघ्र भगवत्प्राप्ति कर लेता है।।३५।।

व्याख्यार्थ: जब जीवकी भागवतधर्मोंमें पूर्ण स्थिति हो जाती है, अर्थात् काया, वाणी और मनसे भगवान्का बन जाता है, तब लोकमें जो-जो काल विशेषसे भी प्रमाद होते हैं, जिनका राजाओंको तो अनुभव है ही, और मनुष्यका अधिकार दण्ड ही है. ये प्रतिबन्ध उस भगवदीयको बाधक नहीं बनते हैं, इस प्रकार प्रवाह मार्गमें बाधाका अभाव कहकर, अब मर्यादा मार्गमें भी बाधाका अभाव दिखाते हैं, जब वह भागवत भगवदीय स्वधर्ममें मस्त बन शीघ्रातिशीघ्र भगवान्की प्राप्तिकेलिए दौड़ता हुआ जाता है तब वह जाते हुए क्रियाका भी यदि उल्लंघन कर जाता है तो भी उसका स्खलन व पतन नहीं होता है. जिससे भगवत्प्राप्तिमें रुकावट नहीं आती है. उस प्रेमावेशमें जब आंखे मूंद जानेसे शास्त्र, गुरु आदिकी आज्ञाको भी नहीं देखता है उसका भी उल्लंघनकर चला ही जाता है तब भी वह भगवत्प्राप्ति कर ही लेता है. मध्यमें उसका स्खलन(रुकावट) व पतन(भगवत्प्राप्ति न होना) नहीं होता है, और न उसके शरीरको किसी प्रकारकी चोट आती है, मानो वह बालक जैसे कोमल पथ पर चल रहा है, इत्यादि कारणोंसे भागवतधर्म सर्व धर्मोंसे उत्कृष्ट(श्रेष्ठ) हैं।।३५।।

आभासार्थ: उपरके दो श्लोकोंमें मुख्य भागवतधर्म कहे. अब तीन

श्लोकोंसे भगवदीयोंको जो कुछ पहले करना चाहिए उसको कहते हैं:

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्धयात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत् तत्।।३६।।

श्लोकार्थ: जीव काया, वाणी, मन और इन्द्रियोंसे जो-जो स्वभावानुसार लौकिक वैदिक कर्म करता है, उन सबको नारायण भगवान्को ही अर्पण करना चाहिए।।३६।।

व्याख्यार्थ: गीताके 'यत्करोषि' श्लोकमें लौकिक कर्त्ता एवं भोक्तापन आदि कर्म तथा वेदके पूर्वकाण्डमें कहे हुए होम, दान आदि एवं उत्तरकाण्डमें कहे हुए तप आदि कर्तव्य ये सब लौकिक वैदिक कर्म परमात्माको अर्पण करने चाहिए, इस प्रकार केवल समर्पण करनेसे सुखकी प्राप्ति तथा दुःखका अभाव फल मिलता है.

'सन्न्यासयोगयुक्तात्मा' इस उक्ति अनुसार त्याग एवं योग सहित अर्पणकर जिसने भगवान्में अपनी आत्माको जोड़ दिया है, उसको मोक्षद्वारा भगवत्प्राप्तिरूप फल मिलता है.

दूसरे प्रकारका जीव जो 'प्रपन्न'(शरणागत) होकर आत्मनिवेदन करता है उसको भगवान् अपनी आत्मा भी अर्पण करते हैं, दोनोंमें इतनी तारतम्यता (भेद) है, अतः प्रपन्न बन आत्मनिवेदन करना विशेष है. प्रपत्ति(शरणागति) पूर्वक आत्मनिवेदन करनेवाला काया, वाणी, मन, इन्द्रिय, बुद्धि एवं स्वभावमें अपना सर्वस्व भगवान्को अर्पण कर देता है. फिर भी यदि स्वभाव प्रबल होनेसे वह जीव भगवान् तथा कृत समर्पणको भूल जाता है और लौकिक प्रकारसे कर्म करने लगता है तो भी उसको वह कर्म भगवदर्पण करना चाहिए. जिसके करनेसे फिर किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित नहीं होती है. यह ही इसकेलिए (प्रपन्नकेलिए) विशेषता है. यह समर्पण त्यागरूप है. अतः संन्यासके स्थान पर भक्ति कही है. १.कर्तव्यका भगवान्को समर्पण करना ३६ वें श्लोकमें, २.भक्ति ३७ वें श्लोकमें और ३.योग तीन श्लोकोंसे ३८ वें श्लोकमें निरूपण किये हैं, जिसमें पहले कहते हैं कि जो कर्म, ज्ञानकी प्रधानतासे अथवा क्रियाकी प्रधानतासे किया जाता है, वे दोनों ही भगवान्को अर्पण करने चाहिए. क्रियाकी प्रधानतावाले वे कर्म हैं जो काया, वाणी, मन और इन्द्रियोंसे किये जाते हैं. ज्ञानप्रधान कर्म वे हैं जो बुद्धिपूर्वक ऐक्य भावसे किये जाते हैं, तीसरे कर्म करण

है, अर्थात् जानकर वा न जानकर सारांश यह है कि करण(साधन)में पृथकता है. किन्तु समर्पणमें एकत्व है. शास्त्र विहित कर्म वा शास्त्रनिषिद्ध कर्म और लौकिक अथवा अलौकिक कर्म आदि जो कुछ किये हैं वे आपको समर्पण करता हूं. इतना ही नहीं किन्तु ये सब मैंने आपकेलिए ही किये हैं. यद्यपि स्वभावसे भिन्न रूपसे किये हैं तो भी आपकेलिए ही करनेसे ये सब कार्य भगवत्सम्बन्धी हो जाते हैं।।३६।।

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्याद् ईशाद् अपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत् तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा।।३७।।

श्लोकार्थः १. प्रभुसे विमुख होना, २. भोगासक्ति और द्वैतभाव होनेसे ३. भय ये तीन दोष मायाके कारण ही जीवमें उत्पन्न होते हैं, जिनसे अपने स्वरूपके अज्ञानसे अपनेको देहरूप समझना और जगत्को ब्रह्म अतिरिक्त, अन्य समझना एवं सबमें अपना स्वामित्व स्थापन करना इत्यादि अहन्तामतात्मक संसार मग्न हो जाना, ये सब कार्य मायासे ही होते हैं. उस मायासे पार जानेकेलिए बुद्धिमान्को एकात्मक भक्तिसे भगवान्का भजन(सेवा) करना चाहिए, भजनोपदिष्ट गुरुको ईश्वररूप जानना चाहिए।।३७।।

व्याख्यार्थः भागवतधर्ममें भगवदीयोंका दूसरा कर्तव्य क्या है? जिसका वर्णन करते हैं जिस मायाने जीवको भ्रमित किया है उस मायासे छूटनेकेलिए भगवान्के शरण जानेके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है. यों स्वयं भगवान्ने गीतामें 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' श्लोकमें कहा है. 'एव' पदसे अन्य उपाय ही नहीं, यह स्पष्टता भी कर दी है. स्वरूप व भगवद्विस्मृति मायाद्वारा उत्पन्न मोहसे हुई है. इससे 'मैं देह हूं' ऐसी विपरीत बुद्धि हो गई है. इस सबका मूल कारण प्रभुसे बिछुड़ना ही है, वह भी मायासे हुआ है फिर मायासे भोगोंमें आसक्ति हुई जिससे भय उत्पन्न हो जाता है. इस प्रकार उत्पन्न भयोंसे भी तो छूटनेकेलिए पूर्णरीतिसे उस परमात्माकी शरण लेकर उसका ही भजन करे, जिसकी मायाने जीवको यों भटकाया है. भक्तिसे ही भगवान् प्रसन्न होते हैं. जीव अनन्यतासे ही उस परमात्माको प्रसन्न कर सकता है. अनन्यता हो नहीं सकती है, क्योंकि स्नेह तीन पदार्थोंमें रहता है इस कारणसे कहते हैं कि 'गुरुदेवते आत्मा' उपदेष्ठा गुरु ही मेरा आराध्यदेव है, तथा आत्म स्वरूप है. इस प्रकार गुरु भगवान् एवं आत्मामें एकीभाव करनेसे अनन्यता सिद्ध हो जाती है .अथवा गुरु, देवता और आत्मा

तीनों वही भगवद्मय हैं. इस प्रकार तीनोंमें एकीभाव करनेसे स्नेह एकत्र हो जाता है, और अनन्यता सिद्ध हो जाती है. जिससे माया मिटकर, फल प्राप्ति होती है. 'भक्ति' चिंतामणिरूप होनेसे सर्व प्रकारसे कार्य(फल) सिद्ध करनेवाली है, अतः किसी प्रकारकी चिंता नहीं करनी चाहिए।।३७।।

अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो ध्यातुर्धिया स्वममनोरथौ यथा।
तत् कर्मसङ्कल्पविकल्पकं मनो बुधो निरुन्ध्याद् अभयं ततः स्यात्।।३८।।

श्लोकार्थ: मायाके कारण देह, गृह आदि ये जो आत्मभाव(अपनापन) हो रहा है जिससे अहन्ता ममताकी उत्पत्ति होनेसे संसारासक्ति होती है, वह संसारासक्ति संसार विद्यमान् न होनेसे मृषा(झूठा) है तो भी सत्य समझा जाता है, सो क्यों? जिस शंकाका निवारण 'ध्यातुर्धिया स्वप्न मनोरथौ यथा' पंक्तिसे किया है कि जैसे ध्यान कर्त्ताकी बुद्धिसे अविद्यमान् स्वप्न और मनोरथोंके पदार्थ भी सत्य दिखते हैं वैसे ये भी सत्य दिखते हैं. यह कर्म संकल्प विकल्पात्मक मनका है अर्थात् मन ही अविद्यमान्को सत्यवत् दिखलाता है अतः उस मनका निरोध करना चाहिए मनके निरोधसे ही अभय प्राप्ति होती है यही 'योग' है।।३८।।

व्याख्यार्थ:(जब कि भेद दिख रहा है तब अभेददृष्टिसे भजन कैसे होगा? इस शंकाके निवारणार्थ ही 'योग' शास्त्र कहा है) 'सर्वानर्थमूलं मनः' योग शास्त्र कहता है कि सब अनर्थोंका मूल मन है, अतः इस(मन)का निरोध करना चाहिए उस(मन)द्वारा झूठा भी द्वैत प्रपञ्च(अहन्ता, ममतात्मक संसार) सत्य दीखता है, मनमें रही हुई वासना ही उसको उत्पन्न करती है, जिसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे योगसे उत्पन्न धर्मोंवाले मनमें सिद्धियां फलीभूत होती हैं, वैसे ही वासनावाले मनमें द्वैत प्रपञ्च फलित होता है, जिससे अविद्यमान् पदार्थोंको भी स्वप्न एवं मनोरथोंद्वारा सत्य समझता है न केवल मनका इतना ही कार्य है, किन्तु कर्मोंके अनेक संकल्प विकल्प करता है तथा कर्मके अनेक स्वरूप भेद बनाता है, वे कर्म सब तरह सुखजनक होते हुए भी दो दोषवाले होते हैं, अविद्यमानताके कारण सत्य सुखदाता नहीं, अतः दो दोष जानकर मनका निग्रह करना चाहिए, अन्यथा इन तीनोंके मिल जानेसे भय उत्पन्न होगा, इसलिए जब इनसे विमुक्ति प्राप्त की जाएगी, तब भगवत्प्राप्ति होगी जैसा कि कहा है 'विमुक्तो मामुपैष्यसि' यहां कहा हुआ 'योग' मैं मानता हूं. कवि योगेश्वरोंपदिष्ट प्रथम पक्षका यह विकल्प है, यों किन्ही आचार्योंका मत है तथा अन्योंका मत है

कि यह साधारण उपाय है।।३८।।

आभासार्थ: दो प्रकारसे भागवतधर्मोंका निरूपणकर, ज्ञान, कर्म एवं वैराग्य न बन सके तो उनके बदलेमें सरल रीतिसे जो बन सके वह भगवन्नाम कीर्तनका पक्ष है:

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेः जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेद् असङ्गः।।३९।।

श्लोकार्थ: सुदर्शन चक्रधारी भगवान्के प्राकट्य तथा कौतुकवाले चरित्रोंका श्रवण करते हुए और लोकमें जो भगवत्सम्बन्धी गीत(भाषामें भक्तोंद्वारा कहे हुए चरित्र) तथा नाम, लज्जा त्यागकर गाते हुए असंग ही विचरण करे।।३९।।

व्याख्यार्थ: उपर कहे हुए मुख्य पक्षोंका अधिकार न होनेसे एवं उन साधनोंको करनेकी शक्ति न होनेसे, ज्ञान और कर्म करनेका अधिकार केवल ब्राह्मणोंको है. भक्ति सिद्ध करनेकेलिए बहुत साधनोंकी अपेक्षा है, अतः सब मनुष्य केवल शरीरसे ही कर सके ऐसा यह 'हरि कीर्तन' ही उत्तम पक्ष है, यों हमने(श्रीवल्लभाचार्यजीने) 'नामान्यनन्तस्य' इस श्लोककी व्याख्यामें प्रतिपादन किया है. उस धर्मका यहां पहले स्वरूप कहा जाता है.

पहले गृहसे निकलते ही चित्तके सन्तोषकेलिए और रस उत्पन्न करनेकेलिए कौतुक उत्पन्न करनेवाले चक्रधारी भगवान्के नाम और चरित्र श्रवण करते हुए गीत गाते हुए जो लज्जा त्याग परिभ्रमण करता है, उसको कहींसे भी भय नहीं होता है, कारण कि, यहां भगवान्का नाम इसलिए सुदर्शन चक्रधारी दिया है क्योंकि सुदर्शन अभय दाता है. यह सर्व ब्रह्मात्मक है अर्थात् ब्रह्म ही जगत्रूप हुआ है, ऐसी बुद्धि तब उत्पन्न होती है जब श्रौतज्ञान अर्थात् श्रुतियोंद्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैतसिद्धान्तका पूर्ण ज्ञान हो जाए. ऐसे अधिकारके अभावमें ही लोकमें महानुभावोंद्वारा गाए हुए भगवान्के नाम, गुण एवं फल चरित्रका श्रवण एवं गान करते हुए निर्लज्ज बन असंग हो विचरण करना चाहिए, जहां भगवद्गुणानुवाद नाम कीर्तन होता हो वहां बैठकर सप्रेम श्रवण करना तथा कीर्तनादि करना यह ही सरल सहज उत्तम पक्ष सर्व साधारण जनोंकेलिए है।।३९।।

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।

हसत्यथो रोदिति रौति गाय त्युन्मादवद् नृत्यति लोकबाह्यः।।४०।।

श्लोकार्थः भक्त लोक लज्जाका त्यागकर जब इस श्लोकमें कहे हुए पांच प्रकारके व्रतोंको धारण करता हुआ अपने प्रीतम प्रभुके कीर्तनद्वारा भगवान्का अनुरागी होनेसे कभी उसका चित्त द्रवीभूत हो जाता है, जिससे कभी वह जोर-जोरसे हंसने लगता है, कभी भगवद्विरहके कारण रोता है, और वियोगसे विशेष व्याकुल होने पर चींखे मारता है तथा डुस्कियां खाता है अथवा उन्मत्तवत्(पागलकी तरह) भगवद्गुण गान करता है और नाचता है इस प्रकार वह प्रेमी प्रेमावेशमें प्रकृतिका उल्लंघन करता है।।४०।।

व्याख्यार्थः इसी तरह अनुकल्पका स्वरूप कहकर अब उसका कार्य कहते हैं. भक्तको आठ धर्मोंके पालनसे प्रकृतिका लंघन+१रूप फल मिलता है, आठ धर्मोंमें संकल्प, अनुराग और चित्त द्रवण ये तीन आन्तर(अन्दरके) धर्म हैं एवं शेष पांच, हंसना, रोना, चींखे मारना, या डुस्की खाना, उन्मादमें आकर गाना और नाचना बाह्य(बाहरके) धर्म हैं, इत्यादिसे वह भक्त लोक बाह्य हो जाता है. यह सब वह भक्त प्रेमावेशमें आकर करता है, कि दम्भ(कपट)से करता है. इस कारणसे ही वह पात्रोंको प्रतिदिन व्रतरूपसे करता है जिससे एकका भी त्याग कभी नहीं करता है।।४०।।

१. लोक बाह्य, प्रकृतिका उल्लंघन अर्थात् भक्त लोककी निन्दा और यशकी परवाह नहीं करता है.

खं वायुम् अग्निं सलिलं महीं च ज्यातींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किञ्च भूतं प्रणमेद् अनन्यः।। ४१।।

श्लोकार्थः(उपरोक्त आठ प्रकारके भागवतधर्म पालन करते हुए भक्त, जब प्रकृतिका अतिक्रमणकर लोक बाह्य हो जाता है अर्थात् लोककी परवाह न कर भगवत्प्रेममें निरत रहता है, और जब उसे ज्ञान एवं भक्ति दोनों ही सिद्ध हो जाते है उस समय भक्तकी जो दशा होती है उसका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं) आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, तारागण, तेज, प्राणीमात्र, दिशाएं, वृक्ष, नदी, समुद्र, एवं अन्य जो कुछ उत्पन्न हुआ है वह समस्त लीलाधर भगवान्का अपने लीलार्थ रचा हुआ शरीर ही है. उससे पृथक् नहीं है, यों जानकर भक्त सबको आत्मरूप समझ प्रणाम करे(करता है)।।४१।।

व्याख्यार्थः इसी तरह भागवतधर्मके पालन करते हुए जब भक्त लोकका

परित्याग कर देता है तब उस(भक्त)को भक्ति तथा ज्ञान स्वतः साथमें ही सिद्ध हो जाते हैं जिसका निरूपण करते हैं. महाभूत, पृथ्वी तथा आकाश उनमें स्थित नक्षत्र तारे एवं दिशाएं चार प्रकारके भूत[१](प्राणी) नदीयां, समुद्र और पर्वत सह समस्त गोविन्द भगवान्का शरीर है, जिसको ब्रह्माण्ड कहते हैं, तथा जो कुछ उत्पन्न कहा हुआ है अथवा जो कुछ नहीं कहा हुआ है वह सर्व प्राणी मात्र भगवल्लीलार्थ प्रभुसे प्रकट हुए हैं, यों हृदयमें निश्चयकर और सबको अपनी आत्मासे पृथक् न समझ उनको प्रणाम करे. सारांश यह है कि ऐसे भक्तको अभेद सिद्ध हो जाता है।।४१।।

१. जरायुज् २. अण्डज ३. स्वेदज और ४. उद्भिज अर्थात् गर्भ-अण्डे-पसीने और जलसे पैदा होनेवाले प्राणी जैसे मनुष्य कबुतर जूएं मछली.

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिः अन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युः तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्।।४२।।

श्लोकार्थः प्रेमलक्षणा, पराभक्ति, प्रभुका अनुभव तथा ज्ञान ये तीन ही शरणागतको साथमें प्राप्त होते हैं जैसे स्निग्ध भोजन करनावालेको प्रत्येक ग्राससे प्रसन्नता, पोषण, क्षुधाकी निवृत्ति साथमें होती है।।४२।।

व्याख्यार्थः 'एवं श्रृण्वन्' श्लोकमें मनः पर्यन्त अनुकल्पसे भक्ति, ज्ञान और वैराग्य फल कहे. कर्मका फल वैराग्य कहा है. एक ही साधन होनेसे वे क्रमसे हो नहीं सकते, साथमें हुए यों लोकमें कहीं भी देखनेमें नहीं आया है, इसलिए प्रथम तीनोंकी साथमें उत्पत्ति लौकिक दृष्टान्त देकर सिद्ध करते हैं. १. पराभक्ति अर्थात् प्रेमलक्षणाभक्ति, २. 'इशानुभव' प्रभुका अनुभव, ज्यों 'मामभिजानाति' 'यावानि' गीताके श्लोकमें कहा हुआ है. ३. परमात्माके अतिरिक्त पदार्थमें वैराग्य, ये तीन ही शरण गए भक्तको, वैसे साथमें सिद्ध हो जाते हैं जैसे घृत मिश्रित स्निग्ध भोजन करनेवालेको प्रत्येक ग्रास लेनेसे प्रसन्नता, पोषण और क्षुधाकी निवृत्ति ये तीन साथमें होते हैं।।४२।।

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजन् ततः परां शान्तिम् उपैति साक्षात्।।४३।।

श्लोकार्थः राजन्! इस प्रकार सतत भावपूर्वक अच्युत भगवान्के चरणकमलका सेवन करनेवाला भक्त, निश्चयसे भक्ति, वैराग्य और भगवत् स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करता है, जिससे वह साक्षात् शांतिको पाता है।।४३।।

व्याख्यार्थ: दूषणका परिहार कर फल कहते हैं. जैसे सर्व कर्ममें बार-बार मङ्गलाचरण किया जाता है वैसे ही जगन्नाथ आदि स्थानोंमें बीच-बीचमें यानि बार-बार अच्युत भगवान्के चरणकमलोंका भजन सेवन करना चाहिए. यह भी फलकी उत्पत्ति दशामें फलका उपकार करनेवाला दूसरा अङ्ग है, यों करते हुए भी जब वह भगवद्भक्त भगवान्की संतान बन जावे भगवान्ने मुझे अपनी सेवाकेलिए जन्म दिया है ऐसे भाववाला हो जावे तब भगवान्के स्थानोंसे निवासकर शुद्ध सत्त्वरूप परम शांति(केवल ब्रह्मानन्दानुभवरूप शांति)को पाता है. उस शांतिके स्थानको योगीजन ही जानते हैं साक्षात् स्वयं ही उस स्थानमें प्रवेश करते हैं यह फल है।।४३।।

राजोवाच

अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम्।
यथा चरति यद् ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रियः।।४४।।

श्लोकार्थ: राजा निमि कहने लगा कि अब भगवद्भक्त सम्बन्धि सब कहिए, उनके(भगवद्भक्तोंके) जो और जैसे धर्म हों, एवं स्वभाव, आचार, विचार हों किस प्रकार वह बोलता है, वह ऐसे कौनसे चिह्न(तिलकादि) तथा वस्त्रधारण करता है, जिनसे भगवान्को प्यारा लगता है।।४४।।

व्याख्यार्थ: भगवदीयत्व ब्राह्मणकी तरह सर्वोपयोगी है. उसमें विशेष ब्राह्मण, विशेष-विशेष कार्योंमें नियुक्त किए जाते हैं, वैसे यहां भी अनुकल्पमें किस प्रकारका भगवदीय लगाया जाता है? यों स्वतन्त्रतासे पूछता है. उत्तम पुरुषको चाहिए कि धर्मके उपयोगार्थ भगवदीयोंके साथ भगवद्धर्मका श्रवण, कीर्तन, पालन आदि करे यों अध्यायका अर्थ फलित होगा, इसलिए स्वतन्त्रतासे यह विषय पूछता है, भगवत्सेवकोंके मध्यमें स्थित होनेसे उस भक्तके सर्व संशय नष्ट हो जाते हैं साधारण मनुष्योंके मध्यमें जो भक्त रहता है इसका भी लक्षण चाहिए जैसे साधारणोंके संध्यावंदन तथा शम-दमादि धर्म कहे जाते हैं वैसे भगवदीयके भी कहने चाहिए. भगवद्भक्तका स्वरूप भी बताना चाहिए, प्रवाहमें स्थित होकर वह सांसारिक कर्म कैसे करता है? 'यथा' पदसे काया, वाणी और मन व्यापार पूछा है. 'लिंग' पदसे भक्तका वेष और चिह्न पूछे हैं जिनके धारणसे यह सूचित होता है कि इसकी भगवद्धर्ममें रुचि(प्रेम) है, जिससे भगवान् प्रसन्न होकर इस पर विशेष कृपा करते हैं.

यहां प्रकृति विषयके अनुरूप उत्तर कहना चाहिए, यहां तीनों(ज्ञान, कर्म और भक्ति)के अनुकल्प होनेसे भक्त भी तीन तरहके कहने चाहिए, ये भगवान्ने अपने स्वार्थ(सेवादि करने)केलिए उत्पन्न किये हैं, अतः इनका एक फलमुख लक्षण ही कहना चाहिए. वहां सब लोग एक प्रकारके नहीं होते हैं, इसलिए सर्वत्र त्रैविध्य(तीन प्रकार) कहना चाहिए ज्ञान, कर्म और भक्ति प्रत्येकके तीन प्रकार होनेसे नौ प्रकार होते हैं, उनका नौ श्लोकोंसे और एक श्लोकसे फल तथा एक श्लोकसे हेतु कहना चाहिए, यों ११ श्लोकोंसे उत्तर दीजिए।।४४।।

हरिरुवाच

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावम् आत्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन् एष भागवतोत्तमः।।४५।।

श्लोकार्थ: हरि योगेश्वर भगवदियोंमें उत्तम भगवदीयके लक्षण कहते हैं, वह उत्तम भगवदीय हैं जो प्रथम ही सर्व पदार्थ मात्रमें भगवद्भावको देखते हैं और भगवान्में सर्व पदार्थोंका दर्शन करते हैं, यों उसको पहले ही ब्रह्मैक्य भावनासे भगवद्भेद स्फूर्ति होती है।।४५।।

व्याख्यार्थ: सब योगेश्वर वक्ता हैं, उनमेंसे दूसरे हरि योगेश्वरजी ज्ञान मिश्र भक्तोंमें उत्तम भगवदीयका लक्षण कहते हैं, प्रथम ये जगत्प्रधान ज्ञानी हैं अतः यों कहा, भगवान्से उत्पन्न सर्व पदार्थोंमें प्रथम ही जीव ब्रह्मकी एकताका विधान कर, [१]औडुलोमि आचार्यके मतका निराकरण किया, ऐश्वर्यादि षड् धर्मोंकी स्थापनासे [२]रामानुजाचार्यके मतका निराकरण किया, इस प्रकार पृथक्-पृथक् बहुत पदार्थ होते हुए भी प्रत्येक पदार्थमें भगवद्धर्मका अनुसन्धान करना, जिससे सर्वत्र अनुभव पर्यन्त भगवान्के दर्शनका व्यापार होता रहता है इसीलिए 'आत्मनः' पद दिया है यद्यपि भगवान् अनन्त हैं तो भी आधाराधेय भावकी प्रतीति होनेसे, उसकी निवृत्तिकेलिए विपरीत कहना चाहिए, काल आदि नियामक नहीं हैं, विरोध परिहारार्थ आत्माका आधारत्व फलेगा, इस प्रकार ऐक्यात्म दृढ़ ज्ञानी भागवत उत्तम है, ऐसे ऐक्यात्म दृढ़ ज्ञानीको भी सर्वत्र भगवद्भावकी दृष्टि तथा भगवन्नाम चरित्र अवश्य कर्तव्य है. अन्यथा उसकेलिए भी शांतिकी स्थिति अशक्य है।।४५।।

१. औडुलोमिका मत है. जीव ब्रह्मका ऐक्य मोक्ष दशामें होता है न कि पहले, पहले तो जीव 'सच्चिन्मात्र' अनादि सिद्ध है.

भागवत मतमें तो यों नहीं है, इस वैष्णव सिद्धान्तमें सर्वदा ही सर्वसे ब्रह्मकी एकता है. लीलार्थ ही एच्धिटक भेद है, अतः ज्ञानी भक्तको तो लीलार्थ भेद ज्ञानके कारण सर्व दैव अभेदकी स्फूर्ति होती है.

२. रामानुजाचार्यजी सर्व अवस्थामें वस्तुका चित् अचित् शरीर मानते हैं. उनके निराकरणकेलिए सर्वमें ऐष्वर्यादिधर्मोंका सदैव अनुसन्धान कहा है.

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः।।४६।।

श्लोकार्थः जो भक्त ईश्वरमें प्रेम, ईश्वराधीन भक्तोंसे मैत्री, अज्ञानी जीवों पर कृपा और शत्रुओंकी अपेक्षा करता है वह भक्त, सर्वमें सम भावके अभाव होनेसे मध्यम कोटिका है।।४६।।

व्याख्यार्थः ज्ञानमिश्रित भक्तोंमें जो द्वितीय कोटि(मध्यम अधिकारीवाले ज्ञानी भक्त)का अधिकारी है, उसका इस श्लोकमें वर्णन करते हैं.

शास्त्रोंमें ही ज्ञानोंका वर्णन समान भावसे नहीं हुआ है. वैष्णव तन्त्रमें जहां ज्ञानकाण्डमें पूर्व कहे हुए ज्ञानका वर्णन है, वह उत्तम अधिकारीकेलिए है और वहां ही(वैष्णव तन्त्रमें) जहां उपासनाकाण्डका विषय आता है वहां ज्ञानका वर्णन समभावसे नहीं किया है किन्तु वह ज्ञान तरतम भाववाला होते हुए भी उपासना विचारसे उत्तम माना है. यद्यपि ज्ञान पंक्तिमें उसको मध्यम कोटिका माना गया है कारण कि उस ज्ञानका भेद सहकारी है. प्रकृत विषयमें ज्ञान मिश्रका लक्ष्य होनेसे अनुकल्पर्थपनके लए होनेसे यहां ईश्वरानुभव करनेकेलिए यह उत्तम होते हुए भी ज्ञान पंक्तिमें मध्यम है.

ऐसे पुरुषको केवल भक्त नहीं कह सकते हैं, क्योंकि जो शुद्ध प्रेमी भक्त है वह किसी पर कृपा और किसीकी उपेक्षा नहीं कर सकता है वह सर्वत्र समभाववाला होता है, तथा भक्ति ज्ञानका सहभाव भी नहीं बन सकता है क्योंकि ज्ञान भेदका विरोधी है और भक्ति स्वरूपकी विरोधिनी है, इसलिए यह ज्ञान तरतम(नीचे) भाववाला ही है जिससे यह मध्यम ज्ञानी भक्त है।।४६।।

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः।।४७।।

श्लोकार्थः जो मानवमूर्तिमें ही केवल भगवान् है अन्यत्र नहीं है यों जानकर मूर्तिकी पूजासेवादि करता है, भगवद्भक्त एवं अन्य गौ विप्र आदिकी पूजा सत्कार नहीं करता है, ऐसा भक्त हीन अधिकारी है।।४७।।

व्याख्यार्थ: इस श्लोकमें तृतीय कोटिके हीन ज्ञानी भक्तका वर्णन है वह हीनाधिकारी एक ही स्थान पर भगवान् है, यों जानकर निश्चिंततासे वहां ही पूजा करता रहता है, इस प्रकार पूजा करना भक्तिमार्गका सिद्धान्त नहीं है अतः जो यों करते हैं वे भक्तिमार्गीय भक्त नहीं हैं, क्योंकि उनका भगवद्भक्तोंमें भगवद्भाव नहीं है, उनमें पातिव्रत्य भी नहीं है क्योंकि वे मूर्ति और भगवान्में भेद कर रहे हैं तथा उनमें सत्य ज्ञान भी नहीं है कारण कि वे अन्य गौ, ब्राह्मण आदि पदार्थ मात्रमें भगवद्भाव नहीं रखते हैं, और 'च' पदसे यह बताया है कि जैसे भक्तको जानता है वैसे ही अभक्तको जानता है जिससे इसके भक्तपनमें बाधा पड़ती है. पूजादिमें भेदके निर्देशसे अस्फुरण पक्षका निराकरण किया है, सारांश यह है कि ऐसे पुरुषको एक देशमें ही भगवान् हैं ऐसा ज्ञान होनेसे प्राकृत(हीन) ज्ञान कहा जा सकता है।।४७।।

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति।
विष्णोर्मायाम् इदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः।।४८।।

श्लोकार्थ: इस ४८ वें श्लोकमें भगवदीयोंमें उत्तम(भक्तिमिश्र भाग)के लक्षण कहते हैं, जो पुरुष इन्द्रियोंसे पदार्थोंको ग्रहण करता हुआ भी तत्पदार्थके विषयोंमें द्वेष वा अनुराग नहीं करता है और यह समझता है कि सब भगवान् विष्णुकी ही लीला है. जिस लीलार्थ ही ब्रह्म अनेकरूप हो इस जगत्रूपसे दर्शन दे रहे हैं, यों समझकर जो भक्त ऐसा आचरण करता है. वह भक्तिमिश्र उत्तम भागवत है।।४८।।

व्याख्यार्थ: भक्तिमिश्र भागवतका तीन श्लोकोंसे वर्णन करते हैं, भक्तिमिश्र भागवत इन्द्रियोंसे तो अर्थोंको ग्रहण करता है, किन्तु उनके(अर्थोंके) दोष उस भक्तके भीतर वा बाहर व्याप्त नहीं होते हैं, और न उसमें(भक्तमें) दोष प्रकट होते हैं, 'भक्त्यायामभिजानाति' इस गीतोक्त वचनानुसार भगवान्का पूर्ण ज्ञान भक्तिसे ही होता है, न कि, ज्ञानसे, अतः भक्ति उत्तम है, यहां जो ज्ञान सम्बन्धी वचन प्रथम और भक्ति पश्चात् कहे हैं वह विपरीत क्रम है. उत्तमताके कारण भक्तिकी आकांक्षा आवश्यकीय है, अतः गीतामें जो भक्तिको प्रथमता दी है वह विरुद्ध नहीं है, माया दुर्निवाया है जिसके स्वरूपका ज्ञान शास्त्रसे ही होता है, स्वरूप ज्ञानान्तर ही भगवान्का स्मरण होता है, स्मरण करते-करते आश्रय सिद्ध होता है.

पहले हीन अधिकारीका लक्षण कहते हैं, वे विषयोंको दूरसे ही त्याग देते हैं, दूसरे जो मध्यम हैं वे विषयोंकी निन्दाकर उनसे मनमें ग्लानि उत्पन्न करते हैं, और जो प्राकृत हैं वे विषयोंकी प्राप्ति होने पर प्रसन्न होते हैं.

इस श्लोकमें जो 'अर्थ' पद है उसका आशय गीताप्रोक्त 'न शोचति न काङ्क्षति' श्लोकवत् नहीं है. ये दोनों भिन्न विषयवाले हैं अर्थात् प्रथमत्व और उत्तमत्व धर्मवाले हैं. इन्द्रियोंसे गृहीत होने पर भी विषयका अन्तःप्रवेश न होनेका कारण यह है कि वह भक्त इन सबको विष्णु(व्यापक)की व्यापिकी माया है यों देखता है, जीवकी परीक्षा, ज्ञानसे वा असत् ज्ञानसे होती है अतः वह समझता है कि यह माया सर्वभावसे मोहित करती है, जिससे पदार्थके स्वरूपका ज्ञान न होनेसे भक्ति पुरःसर वैष्णव चकित होता है, कि जगत्को झूठा समझता है, किन्तु समझता है कि अनन्तकी लीला अनन्त है।।४८।।

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः।
संसारधर्मैरविगृह्यमाणः स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः।।४९।।

श्लोकार्थः जो भगवद् भक्त, प्रभुके सतत् स्मरण करनेसे, जन्म, नाश, क्षुधा, भय, तृष्णा, और कृच्छ्रादि धर्म, जो देह, इन्द्रिय प्राणादिके सांसारिक धर्म हैं, उनसे लिप्त नहीं होता है वह भागवतोंमें मुख्य भगवदीय है।।४९।।

व्याख्यार्थः इस श्लोकमें दूसरे भक्तिमिश्र भगवदीयके अधिकार एवं लक्षणोंका वर्णन करते हैं. यह अधिकारी आन्तरिक पीड़ासे रहित है क्योंकि उसने विषयोंको त्याग दिया है, इन्द्रियोंमें निर्बलता और उनका नाश क्रमसे होता है. देह इन्द्रियादिके जन्म आदि कृच्छ्र, सांसारिक धर्म सहज हैं तथा संसरणके कारण हैं, ये भी भगवान्की व्यामोहिका मायाके कारण सर्वको मोहित करनेवाले हैं. इससे छूटनेकेलिए गजेन्द्रकी तरह स्मरण ही करना चाहिए, क्योंकि स्मरणादि भक्ति, ज्ञानमार्गसे उत्कृष्ट है, अतः यहां प्रथमादिपक्ष नहीं कहे हैं प्रधान कहनेका आशय है कि प्राकृत(प्रारम्भिक) भक्त है.(प्रथमकी) गणना मध्यममें की गई है क्योंकि उसको जन्मादिका अनुसन्धान नहीं है ऐसा भक्त एकान्तमें स्थित होकर भगवत्स्मरण एवं अनुसन्धान करनेसे प्रथम भक्तसे उत्तम है, अतः मर्यादा पुष्टिभेदसे दो पक्ष हैं, यों निर्धारण समझना चाहिए।।४९।।

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः।।५०।।

श्लोकार्थः जिस भक्तके चित्तमें काम, कर्म और उनके बीजोंकी उत्पत्ति नहीं है तथा मन भगवान् वासुदेवमें लीन है. वह निश्चय उत्तम भगवदीय है।।५०।।

व्याख्यार्थः उत्तमके लक्षण कहते हैं, प्रथम तो उसके चित्तमें काम उत्पन्न ही नहीं होता है यदि कदाचित् कुछ उत्पन्न हो जावे तो भी उसके कर्म(आवरण) नहीं होते हैं, अकस्मात् कर्म हो भी जावे तो उनमें वासना नहीं रहती है. वह शरणागत सर्वथा सबसे मुक्त ही रहता है इस प्रकार पुष्टि एवं मर्यादाभक्ति तथा शरणका तीन श्लोकोंमें निरूपण किया. शरणमें हेतुका प्रमाण देते हैं कि 'सर्वं आश्रयतो भवेत्' सब आश्रयसे सिद्ध होता है।।५०।।

आभासार्थः अब 'न यस्य'से लेकर तीन श्लोकोंमें वैराग्यमिश्र भक्तका वर्णन करते हैं:

न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः।
सज्जतेऽस्मिन् अहम्भावो देहे वै स हरेः प्रियः।।५१।।

श्लोकार्थः जिस भक्तको जन्म, कर्म, वर्णाश्रम एवं जातिके कारण देहमें उत्तमताका अहम्भाव उत्पन्न नहीं होता है निश्चयसे वह भक्त हरिको प्यारा है।।५१।।

अभिमानो व्यवहारो वैदिकस्याप्यपेक्षणम्।
त्रितयाभावतो मुख्य एकैकोऽप्यत्र युज्यते।।कारि.९।।

कारिकार्थः १. अभिमान, २. व्यवहार और ३. वैदिककी अपेक्षा, ये तीन साथमें न हो वा एक-एकका अभाव होवे तो भी वह भक्त मुख्य(उत्तम अर्थात् हरिको प्रिय) है. प्रत्येक श्लोकमें इनको पृथक्-पृथक् समझाते हैं.

व्याख्यार्थः भक्तिमें जो बाधक पदार्थ हैं वे इन तीन श्लोकोंमें क्रमशः कहते हैं, उनमेंसे प्रथम बाधक 'अभिमान' है क्योंकि वह अहंकारका मस्तक है, अहंकार जिनसे होता है वह हेतु बताए हैं कि १. सत्कुलमें जन्म होनेसे मनुष्य समझने लगता है कि मैं सबसे उच्च हूं जिससे अहंकार उत्पन्न होता है, इसी तरह ज्योतिष्ठ यज्ञ आदि कर्म करनेसे ब्राह्मणादि वर्णमें उत्पन्न होनेसे, ब्रह्मचर्यादि आश्रम पालनसे द्राविड़ व तैलंग देश विशेषके [१]कारण जाति-विशेषसे इस प्रकार उत्पन्न गर्वका ही अभाव हो तो वह 'हरिको प्रिय' है. उस हरि प्रिय भक्तको दोषोंका सहकार नहीं मिलता है केवल जो गुण हैं वे ही उसमें रहते हैं।।५१।।

१. द्राविड और तैलंग आदि देश विशेषसे प्राप्त उपाधि(नाम विशेष) हैं, न कि जाति,

वास्तवमें जाति वह है जिसमें शमदमादि ब्राह्मण धर्म परम्परासे बीजरूपसे रहते हों और जिसमें शमदमादि ब्राह्मण धर्म प्रकट हैं उसमें ब्राह्मण देवता प्रकट है.

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसुहृच्छान्तः स वै भागवतोत्तमः।।५२।।

श्लोकार्थः जिसको द्रव्यादि पदार्थोंमें अपना परायापन नहीं है और देहादिमें भी अपने परायेपनसे भेद दृष्टि नहीं है, सकल प्राणीमात्रका मित्र है और जो सर्व प्रकारसे शांत चित्त है वह निश्चय भगवदियोंमें उत्तम है।।५२।।

व्याख्यार्थः द्वितीय बाधक व्यवहारमें द्रव्य देहादिका भेद भाव है वह जिसमें नहीं है और सर्व प्राणीमात्रका मित्र है तथा शांत चित्त है वह निश्चय उत्तम भगवद्भक्त है, इस श्लोकमें आया हुआ 'स्व' शब्द धनादि वाचक है. व्यवहारमें मनुष्य यह धन मेरा है इसलिए यह मेरे ही गृह बनाने और विवाहादि कार्यमें लगना चाहिए, दूसरेके नहीं. इस प्रकार सबसे भेद करना. 'पर' शब्द 'पराये' का वाचक होनेसे, वह देह, धन, मनुष्यादि मेरे नहीं पराये हैं इस कारण उनसे द्वेष आदि करना इस तरहके जिसमें भेद नहीं हैं तथा सबको अपना ही समझ स्नेह करता है एवं सर्व प्राणीमात्र पर दया ही करता है, ऐसे अन्तः साधन भी जिसमें हैं, अद्वैत द्वय पक्षकी उपेक्षा कर कहते हैं कि वह भार्यादिमें भी भेद नहीं समझता है, इससे यह सिद्ध किया है कि ऐसे मनुष्यमें दोषोंका अभाव है केवल गुण ही है जैसा कि स्वल्प भोजन सामग्री होते हुवे भी ब्राह्मणको तो तृप्तिसे भोजन करा देना और स्वयं उपवास कर लेना जिससे उस भक्तके वैराग्यकी दोनोंसे सिद्धि कह दी।।५२।।

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दाद् लवनिमिषार्धमपि स वैष्णवाग्र्यः।।५३।।

श्लोकार्थः ज्ञानी, भक्त और सर्व प्रकारके देवोंसे भी विमृग्य, भगवच्चरणारविन्दसे आधा लव एवं निमिष जिस जनका चित्त चलायमान नहीं होता है वह जन वैष्णवाग्रणी है।।५३।।

व्याख्यार्थः तृतीय श्लोकसे कहते हैं कि वैष्णवाग्रणीमें न केवल इस लोकके सुखादि फलसे वैराग्य उत्पन्न होता है किन्तु अश्वमेधादि यज्ञ करनेसे जो त्रिभुवनका वैभव मिलता है, उससे भी इस भक्तको वैराग्य रहता है अर्थात् उन वैभवोंको भी नहीं चाहता है.

प्रमाणबलका जब विचार किया जाता है, तब सब प्रमाणोंसे वेदके

प्रमाणकी बलिष्ठता सिद्ध होती है, अतः जब यों है तो वेदानुसार अश्वमेधादि ही करने चाहिए, फिर भगवत्स्मरण करना कैसे उचित होगा? यदि यों कहा तो सत्य है, किन्तु जो भगवत्स्मरणको किञ्चित्मात्र समय भी नहीं भूलता है, वह वैष्णव अपने मार्गकी उत्कृष्टता प्रकट करता है. वेद जो कुछ कहता है वह अपने अर्थकेलिए नहीं कहता है जिससे उसके उल्लंघनमें दोष होवे, किन्तु अश्वमेधादि करनेसे हम लोगोंको वैभवादि फलकी प्राप्ति हो इसलिए वेद उनके करनेकी आज्ञा देता है, किन्तु उस फलकी हमको अपेक्षा नहीं है. यदि कहो कि यह भ्रान्ति है तो इस पर कहते हैं, कि यह भ्रान्ति नहीं है, क्योंकि भगवान् ही जिनकी आत्मा हैं ऐसे भगवद्भक्त अथवा इसके अङ्गभूत देव और आदि शब्दसे अष्टविध देवयोनियां भी समझनी चाहिए, वे सब तथा जिनने आत्माको वशमें कर लिया है वैसे ज्ञानी भक्तका मनुष्य जिनके चरणारविन्दसे लवनिमिषमात्र भी अपने चित्तको चलायमान नहीं करते हैं वे भ्रमित कैसे कहे जाएंगे? वास्तवमें, भगवत् चरणारविन्दमें मन स्थिर करना ही प्रधान यज्ञ होनेसे, वेद उसकेलिए ही आज्ञा देते हैं. निद्रा आदिमें जो विस्मरण होता है वह स्वाभाविक है वह बुद्धिपूर्वक त्याग न होनेसे त्याग नहीं है. भगवदीय तो कभी भी भगवत्स्मरणका त्याग कर नहीं सकता. भगवत्स्मरण करनेमें जो कर्म विरोध करते हैं वा रुकावट डालते हैं वैसे कार्योंका तो परित्याग करना चाहिए. 'न चलति'का भावार्थ है ऐसे भगवदीय वैष्णवाग्रणीका चित्त भगवन्मार्गसे दूसरे मार्ग पर नहीं जाता है।।५३।।

भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा– नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः।।५४।।

श्लोकार्थः महान् पराक्रमवाले भगवान् वामनके चरणकमलरूप कल्पवृक्षकी शाखारूप अंगुलियोंमें नखरूप मणियोंकी शीतल चन्द्रिका है. उसने भगवद्भक्तके हृदयके सर्व प्रकारके कामादि ताप नाश कर दिए हैं, अतः उसके हृदयमें फिर काम कैसे उत्पन्न होंगे? जैसे चन्द्रमाके उदय होने पर सूर्यका ताप नष्ट ही हो जाता है, जहां ताप ही नष्ट हो जाता है वहां सूर्य कैसे उत्पन्न होगा. वैसे ही जब यहां भगवत्पादनखचन्द्रिकासे काम, ताप ही नष्ट हो जाता है फिर काम कैसे उत्पन्न होगा।।५४।।

व्याख्यार्थः कामादिक फिर हृदयमें उत्पन्न नहीं होंगे यह पक्ष असम्भव सा जचता है क्योंकि संसारमें पटकनेवाली तृष्णा मौजूद है तथा क्षोभ करनेवाले

सत्त्व, रज और तम गुण भी विद्यमान हैं, ऐसी दशामें कदाचित् कामका उत्पन्न होना सर्व जनीन है ही, इस पक्षका निराकरण करते हुए कहते हैं कि जो कार्य वाणी, मन आदिसे जाने नहीं जाते हैं, वैसे कर्म करनेवाले प्रभुने अपने चरण नखचन्द्रिकाद्वारा भक्त हृदयसे कामादिका निरसन कर दिया है, और गुणादिको जब अन्यत्र(अभक्तके हृदयमें) रहनेका स्थान मिलता है तो भक्तके हृदयमें क्यों उत्पन्न होंगे? यदि अन्यत्र स्थान न मिले तो कहा जा सकता है कि भक्तके हृदयमें पुनः उत्पन्न हो जाएंगे. 'भगवतः' पदसे यह बताया है कि ये चरण माहात्म्यवाले हैं. अतः ये चरण जिनके हृदयमें विराजते हैं वहांसे कामादि दोष सदैवकेलिए नष्ट हो जाते हैं, फिर वहां आनेकी क्षमता नहीं रखते हैं, अतः अन्यको वैसी सत्प्रतिपक्षता नहीं है, जैसे मणि प्रभाव अचिन्त्य है वैसे ही भगवान्के चरण भी कल्पवृक्ष होनेसे अकथनीय अनन्त प्रभावशाली हैं. 'चन्द्रिका' पद देकर यह सूचित किया है कि उसकी इतनी विशेष प्रभा है जैसे गंगाका प्रवाह ब्रह्माण्ड भेदन कर सकता है वैसे ही वह प्रभा आनन्द प्रवाह बहाती है, और तापमात्रको तोड़ देती है. सूर्यका ताप दिनको होता है न कि रात्रिको वैसे ही जो भगवद्विमुख है उसको ही कामादि ताप सताते हैं. चन्द्रमाके उदय होने पर ऊष्मा भी निवृत्त हो जाती है तो तापकी वार्ता ही कहां रहती है?।।५४।।

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद् हरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः।। ५५।।

श्लोकार्थः ज्वर श्वास आदि व्याधिके कारणसे बेबस होते हुए भी जो भक्त सतत् भगवत्स्मरण करता ही रहता है, उसके पाप, समूह हरि नष्ट करते हैं, जिससे वह सर्वथा निष्पाप शुद्ध हो, प्रेमपूर्ण रज्जुसे भगवान्के चरणकमलको ऐसा बांध देता है, जो वह साक्षात् हरि, उस भक्तके हृदयका त्याग नहीं कर सकते हैं, अतः वह भक्त भगवदीयोंमें मुख्य माना जाता है।।५५।।

व्याख्यार्थः इस श्लोकमें उस भक्तका लक्षण कहते हैं, जिसको फल प्राप्त हो रहा है. 'आहूत इव मे शीघ्रम्' इस भागवत श्लोकके कथनानुसार उस भक्तको साक्षात् हरि यों आकर दर्शन देते हैं मानों भक्तने उन(प्रभु)को बुलाया है. यह फल मुख्य भक्तका लक्षण है. वे दर्शन देकर चले नहीं जाते हैं किन्तु उसके हृदयमें सतत् स्थिति कर ली है, इस प्रकार अनुकल्पमें भी फल सम्बन्धी कथन है. अन्यथा अनुकल्पका प्रत्यवाय(प्रतिबन्ध) दूर करना ही फल माना जाए.

'साक्षात्' पद देनेका आशय यह है कि जो प्रभु हृदयमें आकर विराजे हैं वे अन्तर्यामी हैं, साथमें ये प्रभु प्रकट पुष्टिस्थ स्वरूप होनेसे भस्मसे आच्छादित अग्निकी तरह शोभित आनन्द तथा शक्तिवाले नहीं हैं. पुष्टिस्थ होनेसे स्वतन्त्र एवं स्वच्छन्द हैं. अतः भक्तिमार्गके विरोध होते हुए भी प्रणय रशनाके कारण वहां वैसे स्थिति करते हैं, जैसे भक्तके मस्तकमें रज्जुसे निर्मित आधारद्वारा करना पड़ता है. भगवत्स्मरणसे जीवके पाप समूह तो पहले ही नष्ट हो गए हैं. भगवच्चरणकमल तो कमलकी तरह ऊर्ध्वमुख ही स्थिति करता है. वह चरणकमल सर्वजनीन होनेसे नारदके समान कहा गया है, इस प्रकरणद्वारा भगवदीय मार्गमें धर्मोपयोगी हो सके एवं अनुकल्पमें भी उपयोगी हो सके ऐसे फल प्राप्त भगवदीयोंका निरूपण किया है।।५५।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण एकादश स्कन्धकी श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित श्रीसुबोधिनी(संस्कृत टीका)के जीव मुक्ति(ब्रह्म, भावमुक्ति) प्रकरणके द्वितीय अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ३

माया, मायासे पार होनेके उपाय तथा ब्रह्म और कर्मयोगका निरूपण

अत्राधिकारहीनानां तृतीयाध्याय ईर्यते।
अनुकल्पोऽधिकारो वा चतुर्भिः सम्भविष्यति।।कारि.१।।
दुष्टप्रवाहविज्ञानं तरणं हेतुभिः क्रमात्।
ज्ञानकर्मपरिज्ञाने तृतीयेऽर्थचतुष्टयम्।।कारि.२।।
द्विपदां भोगसंसिद्ध्यै चतुष्पादो निरूपिताः।
ते स्थिराः शङ्कुसन्नद्धाः स द्विपाद्भिः स्थिरीकृतः।।कारि.३।।

कारिकार्थः दूसरे अध्यायमें भागवतधर्म बताया गया है परन्तु उसका जितना सम्भव हो उतना ही कोई पालन कर सकता है सो यदि उसमें किसीका अधिकार न हो अर्थात् वह पूरी तरहसे पालन न कर सके, और उसमें किसी प्रकारकी कमी रह जावे तो उसकेलिए चार इच्छित साधनोंका वर्णन इस तीसरे अध्यायमें है।।१।।

कारिकार्थः वे चार साधन हैं–१. दुष्ट प्रवाहका ज्ञान, २. धीरे–धीरे उस प्रवाहसे बचने या पार होने के उपाय, ३. ज्ञानका परिचय और ४. कर्मका परिचय, इनका वर्णन इस अध्यायमें है।।२।।

कारिकार्थः दो चरणवालोंको[१] भोगकी प्राप्ति होती है इसलिए चार चरणवालोंने[२] निर्णय किया है, क्योंकि वे स्थिर हैं।।३।।

१. दो चरणवाले नारदजी तथा राजा निमि हैं. २. चार चरणवाले सनत्कुमार और चार योगेश्वर हैं.

राजोवाच

परस्य विष्णोरीशस्य मायिनामपि मोहिनीम्।
मायां वेदितुम् इच्छामो भगवन्तो ब्रुवन्तु नः।।१।।
नानुतृप्ये जुषन् युष्मद् वचो हरिकथामृतम्।
संसारतापनिस्तप्तो मर्त्यस्तत्तापभेषजम्।।२।।

श्लोकार्थः निमि राजा योगेश्वरोंसे पूछते हैं कि, हे भगवन्तों! प्रकृतिसे पर परमेश्वर जो जगत् कर्ता है उसकी, मोक्षदाता विष्णुकी तथा नियामक

भगवान्की जो मायाशक्ति मायी पुरुषों(अधिकारीयों)को भी मोहित करती है, उसको हम जानना चाहते हैं. कृपया उसे कहिये अर्थात् उसका स्वरूपलक्षण तथा कार्यलक्षण कहिये।।१।।

श्लोकार्थ: संसारके तापोंसे सन्तप्त, मरण धर्मवाला मैं, हरि कथामृतरूप आपके वचनोंका पान करता हुआ तृप्त नहीं हूं, क्योंकि वे वचन उन तापोंकी अमृतमय औषधि हैं।।२।।

व्याख्यार्थ: सनकादिकोंके अनुकल्परूप नौ योगेश्वर चतूरूप हैं, उनसे राजा निमिको तथा सदस्योंको मायाके स्वरूपको जाननेकी इच्छा है,अतः राजा पहले उनसे प्रश्न करता है.

एक प्रकृतिसे पर जगत्कर्ताकी माया, दूसरी मोक्षदाता विष्णुकी माया तथा तीसरी नियामक ईशकी माया, इस प्रकार माया तीन प्रकारकी है.

१. माया–सर्वभवन सामर्थ्यवाली जो माया है वह ईक्षकी माया है.

२. माया–विष्णु भगवान्की जो माया है वह 'विद्या–जनिका' माया है.

३. माया–प्रकृतिसे पर जगत्कर्ताकी जो माया है वह 'व्यामोहिका' माया है.

प्रथम, मायाशक्तिका कार्य भी माया है, सर्व समर्थ, ईश, बंध और मोक्षका सृजनकर उनके मध्यमें मायारूप अन्तर्पट रखकर सबका नियमन करते हैं. वह माया, मायीपुरुष जो ब्रह्मादि अधिकारी हैं, उनको भी मोहमें डालती है, कारण कि विषय सबको मोहित करनेवाला है, वह माया हम [१]पूर्णतः जानें ऐसी हम[२] लोगोंकी इच्छा है आप सर्वज्ञ हैं अतः कहिये।।१।।

१. मायाका स्वरूपलक्षण एवं कार्यलक्षण क्या है, इसको जानें.

२. 'नः' हम, बहुवचन कहनेका आशय है कि केवल मेरी ऐसी जिज्ञासा नहीं है किन्तु सब सदस्योंकी ऐसी जिज्ञासा है.

व्याख्यार्थ: राजा योगेश्वरोंकी स्तुति इसलिए करता है कि वे प्रश्नका उत्तर देवें, हम आपके वचन श्रवणसे तृप्त नहीं होते हैं. शास्त्रोंमें कहा गया है कि महापुरुषोंके वचन सर्वदा सुनने चाहिए, उन वचनोंमें भी खास वे वचन अवश्य सुनने चाहिए जिन वचनोंमें मृत्युको टालनेवाली हरिकी कथा हो. हम लोग संसारके आधिभौतिकादि तीन तापों तथा मरण धर्मोंसे व्याप्त हैं, दूसरे ताप तो मिट जाते हैं, किन्तु ये ऊपर बताये हुए ताप एवं आवागमनके ताप मिटानेकी हरिकथामृतरूप आपके वचन ही औषधि हैं।।२।।

आभासार्थ: मायासे निर्लिप्त अन्तरिक्षनामा योगेश्वर साढे १४ श्लोकोंसे उत्तर देते हैं:

अन्तरिक्ष उवाच

एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुज।

ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये।। ३।।

श्लोकार्थ : स्व अवस्था, मात्राएं तथा आत्मा(भगवान्)के प्रसिद्ध्यर्थ भूतोंकी आत्मा महाभुज(महती क्रिया शक्तियुक्त) आद्य(सबकी जो आदि हैं वैसे भगवान्)ने इन पञ्च महाभूतोंसे उच्च तथा नीच(देव, असुर मनुष्यादि) रूप उत्पन्न किये हैं।।३।।

व्याख्यार्थ: साढे १४ श्लोकोंमेंसे इस एक श्लोकसे सृष्टिका वर्णन करते हैं.

इन पञ्चमहाभूतों(पृथिव्यादि)से सृष्टि उत्पन्न हुई. ये पञ्चमहाभूत प्रतीत हो रहे हैं, इनने सृष्टिकी उत्पत्ति करनेमें तत्वोंकी अपेक्षा नहीं की, क्योंकि यह सृष्टि अन्तरसृष्टि मायिक है, 'महाभुज' पदका आशय है कि गृहस्थकी तरह सृष्टयुत्पत्ति करनेमें उत्साहसे कार्य करनेवाले हैं, क्योंकि महतीक्रिया शक्तिशाली है, अतएव एक प्रकारके रूपोंका निर्माण नहीं किया है, किन्तु उच्च नीच अनेक प्रकारके(देव असुर प्रभृति) रूपोंका सृजन किया है. इस सृजनमें तत्त्वोंको ग्रहण किया है, कारण कि यह सत्यासृष्टि है, आप भूतोंकी आत्मा आद्य(सबसे प्रथम) हैं, इसलिए पहले ही मानों जलमें प्रविष्ट होकर मायिकी सृष्टि करते हैं, क्योंकि अवस्था सहित अपनी, मात्राओंकी तथा भगवान्की प्रसिद्धि करनी अथवा जो केवल आप ही यह आत्मा हैं, उसने अपनी प्रसिद्धिकेलिए अन्य सृष्टिकी अपेक्षा स्वप्नवत् यह सृष्टि की है, इस श्लोकमें प्रथम पदमें जो सृष्टि कही है, वह मायिकी(अन्तरा) सृष्टि है जिसके मूलमें तत्त्व नहीं है, अतः असत्विषयतारूपमें प्रतीत हो रही है. दूसरी सृष्टि जो तत्वोंसे रची गई है वह सत्या है. यह भगवान्ने स्वेच्छासे मायाको करण कर और स्वयं प्रेरक एवं कर्ता होके बनाई है, अतः भगवत् भिन्न(कार्य) होनेसे भगवद्रूप है अतः सत्या है.

निर्लेप अन्तरिक्ष योगेश्वर मायाका वर्णन करते हुए कहते हैं कि, माया शब्दके अर्थ, शास्त्रोंमें तथा लोकमें बहुत प्रकारसे किये गए हैं.

१. सर्व कुछ करनेमें समर्थ, २. मोहमें पटकनेवाली, ३. ऐन्द्रजाल विद्या,

४. कापट्यादि रूपोंको कहनेकेलिए 'माया' शब्द प्रयुक्त किया गया है.

१. आदि शब्दसे मायाका अर्थ बुद्धि, कृपा, दम्भ, पण कोषमें दिये हैं.

वेदव्यासजीने समाधिमें मायाका साक्षात् दर्शन किया, वहां देखा कि माया भगवान्‌की आश्रित है, अर्थात् भगवान्‌की एक शक्ति है जो सर्वदा भगवान् के शरणमें ही रहती है, वह मायाशक्ति, एक होते हुए भी दो प्रकारके कार्य करती है, एक कार्य, जीवको व्यामोहमें डालती है. दूसरा कार्य, प्रवाह है प्रकृत प्रसंगमें मायाका अर्थ प्रवाह है. इस प्रवाहको भगवान्‌ने रचा है एवं वह भगवद्रूप है.

सब जीव विषयोंसे मोहको प्राप्त होते हैं, अतः यहां 'माया' शब्दका कौनसा अर्थ लेना उचित है? इन शंकाका समाधान आचार्यश्री निम्न कारिकाओंसे करते हैं.

माया शक्तिर्भगवतो नात्र कार्या विचारणा।
समाधौ तु तथाभानात् प्रयोगस्तु विचार्यते।।कारि.१।।

कारिकार्थः माया भगवान्‌की शक्ति है, जिसमें[१] किसी प्रकार विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है. क्योंकि ज्ञानावतार व्यासजीको समाधिमें ऐसे दर्शन हुए हैं कि 'माया' भगवान्‌की शरणापन्न शक्ति है. किन्तु माया शब्दका प्रयोग किस तरह, कहां और कैसे किया जाए इसका विचार[२] कर्तव्य है. मायाका स्वरूप-लक्षण बताते हुए भगवान्‌ने गीतामें 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया[३]' यह श्लोक कहा है।।१।।

१. माया, भगवान्‌की शक्ति है वा नहीं, इस विषयमें.

२. युक्ति, अयुक्तिसे विषयको समझकर कार्य रूपमें लाना.

३. यह मेरी गुणमयी दैवी माया ऐसी बलवती है, जिसको पार करना महा कठिन है.

विचारे भगवद्वाक्यं लक्षणं कार्यगोचरम्।
प्रतीतिश्चाप्रतीतिश्च साधिष्ठानस्य तद्धि हि।।कारि.२।।

कारिकार्थः भागवतमें 'ऋतेर्थ यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च' इस श्लोकद्वारा 'कार्यगोचर लक्षण' कहा गया है. जो पदार्थ हो उसको न दिखावे और जो पदार्थ न हो उसको दिखा दे, अतः इसको माया कहा जाता है, क्योंकि मनुष्यको भुलावेमें डालती है, जिसका वर्णन आचार्यश्रीने दूसरी कारिकामें इस प्रकार किया है. विचार करने पर भगवत्प्रोक्त गीता वाक्य 'दैवी ह्येषा'से स्वरूप लक्षणका ज्ञान होता है, अधिष्ठान[४] सहित कार्यकी प्रतीति हो, यों कहकर कार्य गोचर लक्षणका

वर्णन किया है।।२।।

४. अधिष्ठान उसको कहते हैं जो अधिष्ठाताको सत्तास्फूर्ति करावे.

सुवर्णजलवत् कार्ये प्रक्रियेयं पुराणगा।
तया सह कृतिः क्वापि च्छादनं वा सतोऽपि वा।।कारि.३।।

कारिकार्थ: मायाके कार्य दो प्रकारके हैं, एक कार्य, कारण, यदि कार्यरूपमें आवे तो भी अविकारी ही रहते हैं, जैसे सुवर्ण, आभूषणरूपमें परिणत होकर भी अविकारी ही रहता है, इसको अविकृत परिणाम कहते हैं, वैसे ही भगवान् अपनी करणरूप मायासे जगत्रूप कार्यमें परिणत होते हुए भी अविकारी ही रहते हैं, अर्थात् ब्रह्म जगत्रूप होते हुए भी विकारी नहीं होते हैं, केवल पूर्व अवस्थामें ब्रह्म कहे जाते हैं, और उत्तरावस्थामें जगत् कहलाते हैं. यह मायाका एक कार्य है, यह अविकृत परिणामवाद कार्य श्रुति सम्मत है जिससे परब्रह्मके सर्वभवन–सामर्थ्य–शक्तिका ज्ञान होता है.

दूसरा कार्य 'जलवत्' प्रतिबिम्बादि उत्पन्नकर जीवोंको मोहित करता है. ऐसे सामान्य रूपसे स्वरूप तथा कार्यका निश्चयकर अब ऐसे विशेष कार्यका निश्चय करते हैं.

मायाको करणरूप कर, जगत् रचना भी कभी–कभी होती है, इस प्रकारकी प्रक्रिया पुराणोंसे ली गई है. श्रुतिमें कहीं भी मायाका करणत्व नहीं कहा गया है, यह पौराणिक प्रकिया, भागवत द्वितीय स्कन्धके 'स्थितिसर्गानिरोधेषु गृहीता माययाविभोः' श्लोकमें तथा 'वीर्यं हिरण्मयं देवी मायया व्यसृजत्' श्लोकमें कही गई है.

जगत्के निर्माण समयमें सर्व प्रकार समर्थ प्रभु अपनी करणरूप मायाशक्तिसे जगत्की सर्ग, स्थिति तथा प्रलयके कार्यमें सतो, रजो और तमो गुणोंको ग्रहण करते हैं.

भगवान्के सत्, चित् और आनन्दके मलरूप जो सदंशात्मक सत्त्वगुण, चिदंशात्मक रजोगुण तथा आनन्दांशात्मक तमोगुण हैं उनकेद्वारा जो नाना प्रकारकी कृतियां की जाती हैं, उनमें यद्यपि मायाका कर्तव्य दृष्टिगोचर होता है किन्तु उन गुणकृत कृतियोंमें वास्तविक प्रेरक व प्रयोजक कर्ता स्वयं प्रभु हैं. माया तो करणमात्र है, वह करणत्व भी भगवदाधीन ही है. इसके अलावा तीसरा कार्य पदार्थका आच्छादन करना है, यह आच्छादन प्रतिकृति निर्माण, आवरण और

विक्षेप इन तीनोंद्वारा किया जाता है।।३।।

निःस्वरूपस्य कार्यस्य तद्धर्माणां सहैव वा।
सदिव स्फुरणं यस्मात् त्रयं मायेति शब्द्यते।।कारि.४।।

कारिकार्थ: निःस्वरूप कार्य तथा उसके साथ उनके धर्म भी सत्रूप देखनेमें आवें ये तीन ही माया है।।४।।

मार्गत्रये हरेः स्फूर्तिः ततोऽन्यत् मायया कृतम्।
प्रतीतिरपि मिथ्येति केचिद् धर्मविचारकाः।।कारि.५।।

कारिकार्थ: भगवान्के कहे हुए श्रुति सम्मत भक्ति, ज्ञान और कर्ममार्ग अनुसार तो जगत्रूप कार्यमें भगवत्सम्बन्धित्वकी स्फूर्ति होती है, तथा जगद्रूप मायाद्वारा दिखता है, अतः मायिक है, इस प्रकारका ज्ञान मायाके प्राबल्यसे ही होता है, जैसे शुक्ति(सीप)में रजत,(चांदी) शंखमें पीतता, (पीलापन) आदि मिथ्या है, वैसे ही यह भी मिथ्या है, उन-उनको वैसी ही स्फूर्ति होती है, इस तरह दो प्रकारका विभाग मायाकृत होनेसे 'माया' कहना उचित ही है.

इस विषयमें कितने वादी ज्ञान और अर्थ दोनोंका सार्वत्रिक अध्यास मानते हैं. उनके मतका अनुवाद करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि 'प्रतीति' भी मिथ्या है यों वे धर्म विचारक कहते हैं, और उनकी सिद्धि युक्तयाभासों तथा वाक्याभासोंसे करते हैं, किन्तु वे शास्त्र विरुद्ध होनेसे आदरणीय नहीं हैं, जबकि शास्त्रप्रमाणानुसार द्विविध कार्यका बोध होता है और वहां भी लक्षणाकी आवश्यकता नहीं है, सुखसे हो तो ही कार्य प्रमाण सिद्ध है, तो फिर सर्वत्र अध्यास मानना श्रेष्ठ नहीं है।।५।।

शास्त्रतो निर्णयस्तस्य वस्तुनो मायिकस्य च।
ज्ञानेऽपि स्फुरणं यस्य तद्रूपं सत्यमुच्यते।।कारि.६।।

कारिकार्थ: इस विषयको विशेष स्पष्ट करनेकेलिए इस छठी कारिकामें कहते हैं कि वस्तु एवं मायिकका निर्णय शास्त्रसे करना चाहिए, न कि प्रमाणाभास एवं युक्तयाभासोंसे करना चाहिए, ज्ञान होने पर भी, अर्थात् ज्ञान दशामें भी ब्रह्मवेत्ताओंको जिस वस्तुका रूप सत्य(ब्रह्म रूप) दिखता है, वह सत्य ही माना जाता है, जैसा कि 'भगवद्रूपं विश्वं' कहा है अन्यत्र श्रुतिमें भी ''प्राणा वै सन्त्यतेषामेष सत्यं'' इत्यादि, अतः शास्त्रोंसे ही निर्णय करना उचित है।।६।।

केवला लौकिकी स्फूर्तिः तावन्मात्रशरीरिणी।

अस्थिरा मूलराहित्यात् सा मायेति निगद्यते।।कारि.७।।

कारिकार्थः अब ७ वीं कारिकामें मायाको कहते हैं कि सबमें 'मायामात्र तु कात्स्न्र्येत्' तथा 'मायामात्रामिदं ज्ञात्वा' एकादश स्कन्धमें जो कहा है वहां 'मात्र' अर्थात् केवल पद देनेका भाव यह है कि वह लौकिकी स्फूर्ति केवल उतनी ही है, क्योंकि एक तो वह अस्थिर है और दूसरी उसकी कोई मूल(जड़) नहीं है, अतः वह माया कही जाती है।।७।।

मात्रप्रयोगो यत्रास्ति तत्रैकस्यैव रूपणम्।
उभयं तु हरेः कार्यं द्वितीये करणं तु सा।।कारि.८।।
द्वितीयमात्रकरणे काशकृत्स्नमतं स्थितम्।

कारिकार्थः आठवीं कारिकामें इसको विशेष स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि शास्त्रोंमें जहां कहीं 'मात्र' पदका प्रयोग किया गया है, वहां एकका ही निरूपण है, हरिकी ही दोनों कृतियां है, इसलिए विक्षेपादिमें मायाका कर्तृत्व कहने मात्रसे भगवान्के सर्वकर्तृत्वमें हानि नहीं है, क्योंकि एक स्थान पर भगवान् प्रयोजक होते हैं, दूसरे स्थान पर कर्ता होते हैं, अतः रूपभेदसे भगवान्का ही कर्तापन है, माया कभी एकमें कारणमात्र होती है।।८।।

जहां मायाको 'करण' माना है वहां 'काशकृत्स्न' का मत स्थिर किया है.

एवं सृष्टानि भूतानि प्रविष्टः पञ्चधातुभिः।
एकधा दशधात्मानं विभजन् जुषते गुणान्।। ४।।

श्लोकार्थः प्रभु इसी तरह भूतों(देहों)की रचनाकर और उनमें पञ्च महाभूतोंसे प्रवेशकर, अपनेको ही अन्तःकरणरूप और दशेन्द्रियरूप बनाकर गुणों(विषयों)का भोग करते हैं।।४।।

व्याख्यार्थः आत्मा किस प्रकार भोग करता है जिसका वर्णन करते हैं, अपने क्रीडार्थ(भोगार्थ) ही बनाई हुई देहोंमें पञ्चमहाभूतोंद्वारा वस्त्रमें तन्तुओंकी तरह प्रविष्ट होकर अपनेको ही अन्तःकरण और इन्द्रियां बनाकर स्वयं विषयोंको भोगते हैं, क्योंकि इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देव अन्य कोई नहीं है, अतः स्वयं अन्तःकरण एवं इन्द्रियां बनकर भोग करते[१] हैं।।४।।

१.यहां काशकृत्स्नका मत स्थिर किया है. भोग तो आत्मरूपसे गुणोंद्वारा होता है.

गुणैर्गुणान् स भुञ्जान आत्मप्रद्योतितैः प्रभुः।

मन्यमान इदं सृष्टम् आत्मानम् इह सज्जते।।५।।

श्लोकार्थ: अपने प्रकाशित गुणोंसे विषयोंको भोगते हुए वे प्रभु (अंशात्मा प्रभु) इस सृजित देहको ही अपना स्वरूप समझकर अपने स्वरूपको भूल जाते हैं. जिससे इस लोकमें आसक्त हो जाते हैं।।५।।

व्याख्यार्थ: इस श्लोकद्वारा उन(अंशात्मा प्रभु), जो गुणोंसे गुणोंको भोगते हैं उनकी आसक्तिका प्रकार कहते हैं. जो प्रभु सृष्टिसे पहले अनासक्त थे, वे प्रभु सृष्टि उत्पन्न करनेके अनन्तर किस प्रकार आसक्त बनते हैं जिसका वर्णन करते हैं.

प्रभु सर्वसमर्थ हैं, अतः स्वरूपसे किसी तरह भी बिना प्रच्युत हुए इन्द्रियोंसे विषयोंका भोग करते हैं, गुणोंसे गुणोंका भोग करने पर भी स्वरूपसे प्रच्युत नहीं होते हैं. अप्रच्युत रहकर ही जैसी [१]सृष्टि है, वैसा भोग करते हैं, यह स्वारस्य 'भुञ्जानः' पदका है.

१. मायिक सृष्टि अतः भोग भी मायिक है.

भोग भोगनेसे तो विषयाधीनता प्राप्त होती है इस शंकाका निवारण करते हैं कि, जिन गुणोंसे भोग भोगते हैं, वे आपके ही पालन पोषण(प्रकाशित) किये हुए हैं, अतः प्रभु विषयोंके आधीन भी नहीं होते हैं, ये गुण प्रभु प्रद्योतित होनेसे क्षणिक भी नहीं हैं, किन्तु भोग बहुत समय करते हुए अपने परमगति(परम एवं अनासक्त स्वरूप)को भूल जाते हैं, जिससे इस लोकमें(मायिक सृष्टिमें) आसक्त होकर देहको ही अपना रूप समझ बैठते हैं।।५।।

कर्माणि कर्मभिः कुर्वन् सनिमित्तानि देहभृत्।
तत्तत् कर्मफलं गृह्णन् भ्रमतीह सुखेतरम्।।६।।

श्लोकार्थ: कर्मेन्द्रियोंसे वासनारूप निमित्तवाले कर्मोंको करता हुआ वह प्रभु(अंशात्मा) स्वयं होने पर भी देहधारी प्राकृत जीव सम होकर किये हुए कर्मोंका फल सुखकी आशामें, दुःख ही भोगता है, जैसे मजदूर भार ढो-ढोकर दुःखको ही भोगता है।।६।।

व्याख्यार्थ: इस प्रकार आत्मा परतन्त्र होनेसे प्रवाही हो जाता है, जिसका उपाय(साधन) कहता है. यद्यपि उसके भोग तो शांत होनेसे निवृत्तसम हो गए हैं, तो भी कर्मेन्द्रियोंसे वासनापूर्वक कर्म करता हुआ केवल देहके धारणार्थ उसका ही पोषण करता है, जिससे प्राकृत जीव सा हो जाता है, कर्म करनेसे उत्पन्न

दुःखरूप फल मजदूरकी तरह भोगता हुआ अनेक प्रकारके क्लेशोंका अनुभव करते यहां(प्रपञ्चप्रवाहमें भ्रमण करता है.) ही भटकता है, सुखकी आशा ही पुनः जन्मादिक हेतु हैं।।६।।

इत्थं कर्मगतीर्गच्छन् बह्वभद्रवहाः पुमान्।
आभूतसम्प्लवात् सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः।।७।।

श्लोकार्थः इस प्रकार जीव, बहुत क्लेशदायी कर्मानुसार देहोंको धारण करता हुआ परवश बन जाता है, और भूतोंके महाप्रलय होने तक जन्म मरणके फलको भोगता रहता है।।७।।

व्याख्यार्थः यों उस जीवको संसार प्रवाहमें डूबना पड़ता है कहकर उस विषयका उपसंहार किया है, पहले तृतीय स्कन्ध एवं पञ्चम स्कन्धमें कर्मगतिके भेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, एवं कर्मकी गतियोंसे किस प्रकार क्लेशादि दुःख भोगे जाते हैं, जिनका भी पञ्चम स्कन्धमें वर्णन किया है. महाप्रलयमें भी कुछ समयकेलिए कर्मकी विश्रान्ति होती है, न कि कर्मकी समाप्ति होती है।।७।।

धातूपप्लव आसन्ने व्यक्तं द्रव्यगुणात्मकम्।
अनादिनिधनः कालो ह्यव्यक्तायापकर्षति।। ८।।

श्लोकार्थः जब [१]महाप्रलय होनेका समय निकट आता है तब जन्म और विनाशसे रहित काल, [२]द्रव्य और गुणात्मक[३] प्रकट विश्वको मूल प्रकृतिमें तिरोहित करनेकेलिए खेंचता है।।८।।

१. धातु–पञ्चमहाभूतोंका प्रलय. २. सूक्ष्म शब्दादि रूप प्रपञ्चका. ३. पृथिव्यादि स्थूल द्रव्य.

व्याख्यार्थः जिस महाप्रलयमें कर्मगतिको विश्राम प्राप्त होता है उसका वर्णन करते हैं, इस श्लोकमें भगवत्कृत प्रलयका वर्णन करते हैं.

जब दोपरार्धका काल पूरा होता है अथवा भगवदिच्छासे महाभूतोंके प्रलयका समय निकट आता है. तब जन्मनाश रहित काल, पृथिव्यादिस्थूल और सूक्ष्मशब्दादिरूपों[१]से व्यक्त विश्वको अव्यक्तकी[२] तरफ खींच लेता है।।८।।

१. ये पृथ्वीत्यादि स्थूल और शब्दादि सूक्ष्ममें लौकिक सिद्धान्त सिद्ध पदार्थ है.
२. मूल प्रकृतिमें लय कर देता है.

शतं वर्षाण्यनावृष्टिः भविष्यत्युल्बणा भुवि।
तत्कालोपचितोष्णार्को लोकांस्त्रीन् प्रतपिष्यति।। ९।।

श्लोकार्थः जब वह महाप्रलयका समय निकट आने लगेगा तब पृथ्वी पर सौ वर्ष पर्यन्त अनवच्छिन्न(अत्यन्त) अनावृष्टि होगी, अर्थात् वर्षाका एक कण भी शतवर्षमें नहीं गिरेगा, और सूर्य उस समय ऐसा भीषण तपेगा जिससे तीनों लोक जलने लगेंगे।।९।।

व्याख्यार्थः इस ९ वें श्लोकसे लेकर चार श्लाकोंमें कार्यप्रलयका प्रकार कहते हैं. उन चारमेंसे पहले श्लोकमें व्यष्टियोंका अभाव दिखाया है, आगेके २ श्लोकोंमें १०,११ में समष्टिको जलाना तथा डुबाना कहा है. १२ वें श्लोकमें वैराज पुरुष विराट देहका त्याग करता है और अव्यक्तमें प्रविष्ट हो जाता है, १०० वर्ष, वर्षाका अभाव होता है, जिसके कहनेका आशय यह है, कि अभाव भी जगत् नाश करनेमें समर्थ है, इसलिए 'उल्बण' शब्द देकर वर्षाके अभावकी भयंकरता दिखाई है, तथा सूर्य वृद्धि तथा ज्योति उष्णता धारण करनेसे अतिशय उष्ण हो गया है, जिससे वह सूर्य जगत्को अतीव सन्तप्त करता है।।९।।

पातालतलम् आरभ्य सङ्कर्षणमुखानलः।
दहन् ऊर्ध्वशिखो विष्वग् वर्धते वायुनेरितः।।१०।।

श्लोकार्थः संकर्षण भगवान्के मुखकी अग्नि पाताल तलसे प्रारम्भ होकर वायुसे प्रेरित उंची-उंची शिखाओंसे चारों दिशाओंको जलाता हुआ बढ़ता ही जाता है।।१०।।

व्याख्यार्थः प्रलय समयमें संकर्षण मुखकी अग्निका दाहार्थ प्रवेश १०० वर्षमें होता है।।१०।।

संवर्तको मेघगणो वर्षति स्म शतं समाः।
धाराभिर्हस्तिहस्ताभिः लीयते सलिले विराट्।। ११।।

श्लोकार्थः प्रलयकारी संवर्तक मेघगण शत वर्षपर्यन्त हस्तिके शुण्डके समान जलकी धाराएं बरसायेंगे जिस जलमें ब्रह्माण्ड लीन हो जाएगा।।११।।

व्याख्यार्थः इस श्लोकमें संकर्षण मुखकी अग्निसे दग्ध सृष्टिका जलमें डूबना(विलयपाना) कहते हैं, ये संवर्तक मेघ आधिदैविक कालके [१]आध्यात्मिक रूप हैं, विराट्रूप ब्रह्माण्ड(सृष्टि) का विलय [२]दग्धगोमयपिण्डके समान है ।।११।।

१. संवर्तक मेघ आधिदैविक कालके आध्यात्मिक रूप कहनेसे यह स्पष्टीकरण किया गया है, कि सूर्य कालका आधिभौतिक रूप है.

२. दग्धगोमयपिण्डवत् कहनेका आशय यह है कि जैसे द्वादश स्कन्धमें प्रलयमें अवयव विशरण कहा है वैसे ही यहां भी हुआ है.

ततो विराजम् उत्सृज्य वैराजः पुरुषो नृप।
अव्यक्तं विशते सूक्ष्मं निरिन्धन इवानलः।। १२।।

श्लोकार्थः हे नृप! जब ब्रह्माण्डरूप उपाधि जलमें विलय हो जाता है, तब उपाधि रहित होनेसे वैराज पुरुष उसका त्याग कर सूक्ष्म अव्यक्त(समष्टि जीव स्वरूप) स्वरूपमें प्रवेश करता है, जैसे काष्ठ रहित अग्नि अपने सूक्ष्म मूलरूपमें अन्तर्हित होती है।।१२।।

व्याख्यार्थः इस श्लोकमें कहा गया है कि वैराज पुरुष, विराट् ब्रह्माण्ड देहका त्याग कर, अव्यक्तमें लय होता है, क्योंकि वह अधिकारी पुरुष है, प्रलयके अनेक प्रकारोंमेंसे यह भी एक प्रकार है।।१२।।

वायुना हृतगन्धा भूः सलिलत्वाय कल्पते।
सलिलं तद्धृतरसं ज्योतिष्ट्वायोपकल्पते।। १३।।

श्लोकार्थः वायु पृथ्वीका गन्ध खींच लेता है तब वह जलरूप हो जाती है. इसी प्रकार काल जलका रस गुण जब खींच लेता है तब वह अग्निमें लीन हो जाता है, अर्थात् अग्निरूप हो जाता है।।१३।।

व्याख्यार्थः भूमिके अन्य तत्त्वोंसे पृथक् पहिचान करानेवाला गुण प्रथम आशय 'गन्ध' है. इस भूमिके व्यावर्तक गन्ध धर्मको वायु खींच लेती है, यह प्रसिद्ध ही है, कि वायु गन्धको खींचती हैं, अतः प्रलयके समयमें जब वायु पृथ्वीके गन्ध गुणको खींच लेती है, तब वह जलरूप हो जाती है, एवं उसकी श्यामरूपता भी तिरोहित हो जाती है. इसी तरह अन्य जल आदि महाभूतोंका भी लय कहा है. जलके रस गुणको कौन खींचता है, वह स्पष्ट नहीं कहा गया है किन्तु 'तद्धृतरसं' पदमें कहे हुए 'तत्' शब्दसे काल समझना चाहिए, अर्थात् जलका रस, कालने चूस लिया, जिससे वह तेजोरूप हो जाता है।।१३।।

हृतरूपं तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते।
हृतस्पर्शोऽवकाशेन वायुर्नभसि लीयते।। १४।।

श्लोकार्थः आधिदैविक तम द्वारा रूपके हरण हो जाने पर ज्योति वायुमें लीन होती है, अनन्तर अवकाश, वायुके स्पर्श गुणको खींच लेता है, जिससे वायु, आकाशमें विलय हो जाती है।।१४।।

व्याख्यार्थ: तमोगुणका तामसरूप 'तम' है, यहां वह तम, तमोगुणका आधिदैविक[१] रूप ग्रहण करता है. कार्यके जो आधार नहीं है ऐसे देश तथा कालका 'अवकाश' शब्दसे व्यवहार किया जाता है, वहां देशसे स्पर्शका नाश होता है लोकमें भी देखा जाता है तो देश अवकाशसे स्पर्श होता है, कालात्मकसे जो होगा, वह आगे के श्लोकमें कहा जाएगा।।१४।।

१. यह 'तमस्'(अन्धकार) सत्य वस्तु है, अतः इसको आधिदैविक कहा गया है. (प्रकाश)

कालात्मना हृतगुणं नभ आत्मनि लीयते।

श्लोकार्थ: कालात्मा द्वारा गुणोंके खींचे जानेसे आकाश आत्मामें लीन होता है।।१४।।

व्याख्यार्थ: कालरूप अवकाशसे अर्थात् कालद्वारा शब्द गुण नष्ट होता है, जिससे आकाश आत्मामें लीन हो जाता है।।१४ १/२।।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सह वैकारिकैर्नृप।
प्रविशन्ति ह्यहङ्कारं स्वगुणैरहमात्मनि।। १५।।

श्लोकार्थ: इन्द्रियां, मन और बुद्धि अपने अधिष्ठाता देवों सहित अहंकारमें प्रवेश करते हैं, और फिर अहंकार गुण सहित आत्मा(जीव)में प्रवेश करता है।।१५।।

व्याख्यार्थ: शेष रहे हुओंका लय कहते हैं, 'आत्मनि' पदसे यहां जीव लेना है, अर्थात् इस श्लोकमें कहे हुए इन्द्रियोंसे लेकर गुण सहित अहंकारका लय जीवमें होता है, कारण कि यह [१]प्राकृतिक लय नहीं है, किन्तु केवल [२]मायाकृत लय है, मायावैभववाली होनेके कारण बहुत विषयवाली है अन्यत्र भी वहां एक देशसे भी माया शब्दका प्रयोग होता है जैसे ऐन्द्रजालिक, वह मन्त्रगत है, अंगोमें स्थित होनेसे स्वल्पविषया होती है, इस मायाका कार्य व्यामोह है, तथा पदार्थ, सृजन और उनका अनुभव ये तीनों यहां होते हैं, इसलिए यहां सम्पूर्ण कहे हैं।।१५।।

१. पुरुष और अव्यक्त शक्तिके लय न कहनेसे केवल मायिक अतः प्राकृतिक नहीं है.

२. 'एषा माया भगवतः सर्ग स्थित्यन्तकारिणी'', यह भगवान्की माया सर्ग, स्थिति और लय करती है इस वाक्यानुसार वह मायाकृत लय होनेसे मायिक है.

एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी।

त्रिवर्णा वर्णितास्माभिः किं भूयः श्रोतुम् इच्छसि ।। १६।।

श्लोकार्थः जगतकी सर्ग(उत्पत्ति), स्थिति(पालना) और अन्त(प्रलय) करनेवाली, त्रिगुणोंवाली, भगवान्की माया शक्तिका वर्णन किया, इसके अनन्तर क्या सुनना चाहते हो?।।१६।।

व्याख्यार्थः इस श्लोकमें इस मायाके कार्यलक्षणसे पहचान कराई गई है, क्योंकि स्वरूपसे इसकी पहिचान करानी अशक्य है. यह त्रिगुणवाली भगवान्की माया शक्ति इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाली है. यह इसका कार्य लक्षण है. यह माया आकृतिसे स्त्रीरूपा है, उस मायाका भर्तृत्व भगवान्में है, अर्थात् उसके पति भगवान् हैं मायाकी अतिशय सुन्दरता स्त्रीत्वमें होनेसे सर्व लोक स्त्रियों पर मोहित होते हैं, इससे मूल शक्ति मायाके स्वरूपमें स्वाभाविक दोष नहीं होता है, इसलिए कहते हैं, कि फिर क्या सुननेकी इच्छा है?

श्रीरूपत्वाद् धृतं रूपम् आकृतिः स्त्री निगद्यते।
स्वभोगाय तथा दैत्यमोहाय च सदा हि सा।।का.१।।

कारिकार्थः मूल शक्ति स्वरूपकी आकृति क्या है, जिसका निर्धारण करते हैं, कि 'श्री' रूप है, अतः वैसी आकृति धारण की है, वह आकृति 'स्त्रीरूपा' है, अर्थात् आनन्दरूपी हुई है, क्योंकि अपने(भगवान्के) भोगार्थ आनन्द रूपकी है, वह माया रूपसे सदैव दैत्यों(आसुरी जीवों) को भ्रमित करती है. इस कारिकामें मायाकी मर्यादा और प्रवाह मार्गके स्वरूपोंको कहकर दूसरी कारिकामें पुष्टि स्वरूप कहते हैं।।कारि.१।।

प्रभुसेवकरीत्या हि भक्तिमर्गे निरूपणम्।
श्रुतीनाम् अन्यथारूतिः न दूषणम् इहाण्वपि।।का.२।।

भक्तिमार्गमें वह माया प्रभुकीसेविका बनकर कार्य करती है, जिससे मर्यादा मार्ग अथवा पुष्टिमार्गमें वह बाधक नहीं होती है, तब श्रुति गीतमें 'जय-जय ' कहकर जो प्रार्थना की है, उससे विरोध आता है. जिस विरोधको मिटानकेलिए आचार्यश्री कारिकाके उत्तर पदमें कहते हैं, कि ''श्रुतीनां अन्यथा रीतिर्नदूषणम् इहाण्वपि''।।कारि.२।।

बीजसंस्कारकृपया नान्योन्याश्रयणं मतम्।
सर्वे मार्गा विलीयेरन् सा चेत् तत्र तथा न हि।।का.३।।

श्रुतियोंकी रीति दूसरे प्रकारकी है, अतः यहां अणुमात्रका भी दूषण नहीं

है. कारण कि श्रुतियोंको प्रार्थना करनेमें ही अधिकार है, और इस मायाशक्तिका मोह करनेमें अधिकार है इसी तरह कार्य विरोध होनेसे दोनोंमें(माया और श्रुतियों) सापत्न्याभाव आ जानेसे दोनोंका कार्य पृथक् है, अतः अपने प्रभुकी आज्ञा परिपालन करनेसे दोनोंको लेश मात्रका भी दोष नहीं लगता है।।कारि.३।।

अंशपक्षे न दोषोऽस्ति ह्यवस्थायां तु सा रतिः।
मर्यादापुष्टिमार्गेण मुक्त्यर्थं निन्द्यते परम्।।का.४।।
अतस्तद्विषयोल्लङ्घ्यः प्रष्टव्यश्चेत् तदुच्यते।।

बीजमें ही कृपाका संस्कार होने से अन्योन्याश्रयण नहीं माना गया है, वह कृपा जीवमें बीजरूपसे न हो तो सर्वमार्ग विलयको प्राप्त हो जावे.

श्रुतिगीतमें ''जय-जय जह्यजां'' इस प्रार्थनामें मायानाशकी प्रार्थना, इस वाक्यकी उपपत्ति नहीं होगी, और 'योगमायामुपाश्रित' इस उक्तिकी भी उपपत्ति नहीं होगी. इस शंकाका समाधान आचार्यश्री व्यवस्थापूर्वक चार कारिकासे करते हैं, कि 'मर्यादापुष्टिमार्ग रीतिसे विचार करने पर अंशपक्षमें कोई दोष नहीं रहता है. उसको अवस्थामें तो रतिरूपा कहा गया है, रतिरूपा भावात्मिका होनेसे भगवद्रूपा है. कृपा, मायासे अंशतः जीवोपकार कराती है, एवं अमुक अंशसे मायाका नाश भी कराती है. इस प्रकार होनेसे सर्व शास्त्र सामंजस्य होता है जिससे कहा हुआ दोष सिद्ध नहीं होता है तथा पुष्टि मार्गमें भी पूर्वपक्षके निरास हो जानेसे दोष निवृत्ति है. भक्तोंकी जो सात्त्विक, राजस और तामसावस्थामें वह 'रति' जब उत्कट अनुराग रूपा बन जाती है, तब विचार करने पर समझमें आजाता है कि मर्यादा-पुष्टिमार्गमें कहीं भी दोष लेश मात्र भी नहीं है, क्योंकि सर्व सामञ्जस्य हो जाता है. परन्तु भगवान् गुणातीत होनेसे वहां सायुज्य प्रकाश शक्ति भी ''तत्र सत्वं निर्मलत्वात्'' इस प्रमाणसे होती है. वह सत्वगुण सुख पूर्वक विषयासक्ति कराकर जीवको बंधनमें डालता है, इसलिए सर्वांशसे मुक्तिकेलिए निन्दाकी जाती है।।कारि.४।।

अतः उन विषयोंका उल्लंघन करना आवश्यक है, इसके बारेमें पूछना हो तो पूछिये. पूछने पर कहा जाएगा।।कारि.।।

इस विषयमें यह विशेष जानना चाहिये 'रति' आनन्दशक्ति है, क्योंकि 'प्रियत्व' उसका धर्म है, सृष्टि दो प्रकारकी है १.स्वार्थ २.परार्थ, यों दो प्रकार होनेसे सर्व रस भोक्ता रसेश्वर प्रभुके भोग विचित्रताके लिए जो-जो तामसादि

भाव है, वे भी रति(आनन्दशक्तियों)में व्याप्त होनेसे, अन्तर्यामी न्यायवत् भगवान्में ही व्याप्त हैं, इसलिए भगवद्रूप है, जैसे लोहेके गोलेमें अग्नि व्याप्त होती है, इस कारणसे ही प्रभुचरणोंने भक्तिके भावोंको भगवद्रूप कहा है, और आचार्यश्रीने अपने इस पुष्टिमार्गको निर्गुण कहा है, इसलिए शंकाका कोई भी अंश नहीं है।।१६।।

राजोवाच

यथैताम् ऐश्वरीं मायां दुस्तराम् अकृतात्मभिः।
तरन्त्यञ्जः स्थूलधियो महर्ष इदम् उच्यताम्।। १७।।

श्लोकार्थः जिन्होंने अपने अन्तःकरणको भगवत्परायण नहीं किया है और जो देहको ही आत्मा माननेवाले हैं, वे ईश्वरकी शक्ति रूपा दुस्तर इस मायाको जिस सुगम उपायसे पार कर जावे वह उपाय कहिये, इस उपायको कहनेके योग्य आप ही हैं, क्योंकि आप महान ऋषि हैं।।१७।।

व्याख्यार्थः बिना पूछे किसीको नहीं कहना चाहिये(ऐसा सिद्धान्त है) इसलिए राजा प्रबुद्ध योगेश्वरसे पूछता है, कि यह माया ऐसी प्रबल है, जो भगवत्प्राप्तिके निकट पहुंचे हुए तपस्वी आदि महापुरुषोंको भी काम, क्रोध आदि द्वारा प्रवाहमें पटक देती है, तो जिन्होंने अन्तःकरणको भगवत्परायण नहीं किया है और स्थूल देहको ही अपनी आत्मरूप समझ बैठे हैं, एवं ज्ञान-भक्ति रहित होनेसे प्रवाहमें पड़े हुए हैं, ''मामेव ये प्रपद्यन्ते'' यह उपाय सर्व जनीन नहीं है, केवल शरणागतोंकेलिए है, अतः आप महर्षि हैं, सर्व तापहारी हैं इसलिए आप प्रत्येककेलिए सरल मायासे तरनेका उपाय बता सकते हैं, अतः केवल स्थूल बुद्धिका शरणागत ही मायाको पार कर सके वह उपाय नहीं कहिये किन्तु सर्व प्रकारके बुद्ध एवं अबुद्ध भी, जिस एक ही उपायसे मायाके पार पहुंच, भगवदानन्द प्राप्त करे, वह सरल एवं सहज उपाय कहिये।।१७।।

प्रबुद्ध उवाच

कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च।
पश्येत् पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम्।। १८।।

श्लोकार्थः राजाके इस प्रकार प्रश्न करने पर प्रबुद्ध योगेश्वर कहने लगे कि नारायणके परायण होना ही उपाय है, भगवत्परायण होनेका साधन भक्ति है, जिसको समझानेकेलिए पहले कहते हैं, कि जो स्त्रीके साथ रहकर गृहस्थी बनके

दुःखोके नाश करनेको एवं सुख प्राप्तिकेलिए बार-बार कर्म करते हैं, किन्तु उन कर्मोंका फल उलटा ही होता है, यह देखकर भी मोहका त्याग एवं विवेककी जानकारी प्राप्त नहीं करते हैं।।१८।।

व्याख्यार्थ: सबकेलिए एक ही सरल सहज उपाय भगवत्परायण होता है, भगवत्परायण होनेका साधन, भक्ति ही है, वह भक्ति कैसे हो, उसका उपाय है, भगवत्शास्त्रमें साधनरूपसे कहे हुए भगवद् धर्मोंका ज्ञान प्राप्त करना, उनका ज्ञान गुरु-सेवासे होता है, वह किसको प्राप्त होती है? जो गुरुकी शरण लेता है. मनुष्य गुरुकी शरणागति तब प्राप्त कर सकता है, जब इस लोकके सुख और परलोकके सुखोंसे वैराग्य प्राप्त कर लेता है. 'न तस्य तत्त्वग्रहणाये' इस शास्त्र वचनसे यह निश्चित है, कि वैराग्यके सिवाय कार्यसिद्धि नहीं होती है, इसमें इस लोकका वैराग्य दो प्रकारसे कहते हैं, एक स्त्रीसे, दूसरा धनसे लौकिक कर्म और स्त्रीके छोड़नेसे वैराग्य हो, किन्तु वे छोड़े नहीं जाते हैं, क्योंकि कर्म करते हुए एवं स्त्रीसंगका अनुभव करते हुए व्यसन हो गया है. लोकमें स्त्रीके बिना अकेले कैसे रहा जाएगा? इसलिए स्त्रीके साथ ही रहनेका आग्रह हो गया है. पहले उसको यही दृढ़ आग्रह हो जाता है, आत्मा(देह) का रूप सौन्दर्यमें ही सुख है, जिससे कार्योंका आरम्भ ही विपरीत होता है, जिससे सुखके बदले दुःखको ही प्राप्त करता है. बार-बार कर्म करनेसे सुखको भी कभी दुःखमें परिणत करता है.

उपक्रमानुरोधेन स्वयं चापि तथाविधः।
स्वस्याबाधकता वाच्या परस्त्वध्रुव एव हि।।का.१।।
प्रवाहात् तु पृथग् ज्ञानं प्रतिकर्म व्यवस्थितिः।
शास्त्रतः सर्वनिर्धारो यस्य तस्येदम् उच्यते।।का.२।।
प्रवाहपतिता नात्र विचार्या इति मे मतिः।

कारिकार्थ: प्रारम्भमें पूछे हुए प्रश्नके अनुसार, राजा स्वयं भी स्थूल बुद्धिवाला है, अतः राजाको भी माया रुकावट न करे ऐसा उपाय बतानेकी कृपा चाहता है. प्रवाह पतित जीव तो अधिकारी है ही नहीं, क्योंकि उसके लिए श्रुति कहती है, कि ''जायस्व म्रियस्व(छान्दो.५।१०।८)'' तू जन्म ले, फिर मृत्युको प्राप्त कर, यों प्रवाहमें चक्कर लगाता रहे, इसलिए ऐसा जीव अधिकारी हो नहीं सकता है, यदि वह अधिकारी नहीं हो सकता है, तो किस प्रकारका जीव अधिकारी होगा? इस शंकाका निर्णय 'प्रवाहात्' पृथक् कारिकामें करते हैं.

ज्ञानको तो प्रवाहसे पृथक् प्रत्येक कर्मके विषयमें निर्णय करना पड़ता है. कर्म दो प्रकारके हैं, १. नित्य कर्म २. काम्यकर्म, नित्यकर्ममें प्रवृत्ति करनी चाहिए और काम्यकर्मसे निवृत्ति लेनी चाहिए, यह निर्णय शास्त्रानुसार ही है, इस शास्त्राज्ञाको माननेवालोंकेलिए ही यह कहनेमें आया है, जो जीव प्रवाहमें पड़े हैं, उनका वहां विचार ही नहीं करना चाहिए, ऐसी अपनी सम्मति आचार्यश्री देते हैं।।१८।।

नित्यार्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनात्ममृत्युना।
गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः ।। १९।।

श्लोकार्थ: नित्य पीड़ा देनेवाले दुर्लभ, जिसे प्राप्त करनेमें मृत्यु भी हो जाती है, और फिर नश्वर(नाशवान) भी है, ऐसे धनसे किसी प्रकारका सुखादि लाभ नहीं है, तो उससे प्रीति क्यों की जाए? अर्थात् उससे प्रेम करना व्यर्थ है, यदि कहो कि सदा धनके ही सहारेसे गृहस्थ चलता है, जिससे ही गृह सन्तति बंधक, पशु आदि सुखके साधन मिलते हैं, इसलिए इससे प्रेम करना चाहिये तो यह कहना भी व्यर्थ है. क्योंकि गृहादि भी नाशवान और चलायमान होनेसे वास्तवमें, अंतमें दुःख ही देते हैं. अतः धनसे तथा इनसे प्रीति करनेमें लाभ नहीं है।।१९।।

तद्धि चिन्तनमारभ्य विनाशावधि दुःखदम्।
मृत्युस्तु सुलभो लोके दुर्लभं धमेव हि।।का.१।।

कारिकार्थ: धनको उसका विचार करनेके समयसे उस(धन) का नाश हो जाने तक सर्व दुःख देता ही रहता है. लोकमें मृत्यु सुलभ है, किन्तु धन दुर्लभ है किन्तु यह धन अन्तमें मृत्युप्रद ही होता है, ऐसे धनसे एवं ममतास्पद गृहादिसे प्रेम करना मूर्खता ही है. कारण कि वास्तवमें धन स्वयं मृत्युरूप ही जिससे सुखाशा मृगतृष्णा जैसी ही है।।१९ १/२।।

एवं लोकं परं विद्यात् नश्वरं कर्मनिर्मितम्।
सतुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्तिनाम् ।। २०।।

श्लोकार्थ: जैसे इस लोकका कर्म-निर्मित(कर्म द्वारा पाया हुआ) फल नाशवान् है, वैसे ही परलोकका भी कर्म निर्मित फल नाशवान् है. जैसे मण्डलेश्वर राजा भी समान श्रेणीवालोंके साथ स्पर्धा(डाह) करते हैं, उत्कृष्ट श्रेणीवालोंसे ईर्ष्या करते हैं, अधिक उत्कृष्ट(उत्तम) राजाओंसे उन(मण्डलेश्वर राजाओं) के नाशका भय रहता है. वैसे ही पुण्यात्माओंमें भी परस्पर स्पर्धा, ईर्ष्या रहती है

विशेष पुण्यावस्थामें ईर्ष्यालु देव हमारे सुखका ध्वंस(नाश) करेंगे, ऐसा भय रहता है, तात्पर्य यह है, कि कर्म मार्गमें दुःख ही है, अतः इससे भी वैराग्य करना उचित है।।२०।।

भूम्यादिवृत्तयः सिद्धा साध्यानां गृहशेषता।
देहे तु यस्य वैराग्यं स पूर्वत्र निरूपितः।।का.१।।

कारिकार्थः जो लौकिक आजीविकादि गृहस्थके कार्य चलानेकेलिए कृषि आदि वृत्तियां प्राप्त हुई हैं, वे अस्थिर हैं, अन्य साधन पदार्थ भी गृहका अंग होनेसे चलायमान हैं, यों बुद्धिमान मनुष्य समझ सकता है अतः अस्थिर(चलायमान) पदार्थोंमें राग(प्रेम) करनेसे लाभ कुछ भी नहीं है, किन्तु अन्तमें दुःख ही है, यों समझकर जिसमें देहादिसे राग मिटाकर वैराग्य ग्रहण किया है, वह विरक्त ही अधिकारी है, यह आगे १२ वें श्लोकमें निरूपण किया है. गृहस्थी रागी पुरुष दुःखी होता है, यों वैराग्यका उपदेश दिया है.

व्याख्यार्थः शंका [१]''जो दुःखसे भिन्न नहीं'' ''चातुर्मास्य यज्ञकर्ताको अक्षय सुख मिलता है''[२] ''श्रद्धादिसे प्रसन्न पितामहादि स्वर्ग, मोक्ष, सुख और राज्य देते हैं''[३] ''लोकमें जो-जो इष्टकर्म किये जावे, वे सर्व भगवान्‌को अर्पण करने चाहिये, जिससे अनन्तफलदायी होते हैं, इत्यादिसे तो अनन्त कर्मफल प्राप्त होता है, फिर नश्वर कैसे''[४] यदि ऐसी शंका हो तो इस शंकाका समाधान आचार्यश्री इन कारिकाओं द्वारा करते हैं.

१. यन् न दुःखेन संभिन्नं.
२. चातुर्मास्ययाजिनो अक्षय्यं ह वै सुकृतं इति श्रुतिः.
३. स्वर्गं मोक्ष सुखानि च प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहा स्मृतव.
४. तत्तन् निवेदयेन् मह्यम् तदानक्त्याय कल्पत, इत्यादि पुराणैश्चानक्त्य कथनात् कथं तत्फलस्य नश्वरत्वं बुध्यते.

अयथाज्ञानतो जातं वैदिकं स्मार्तमेव च।
पौराणं च ततो जातं फलं गृहवदेव हि।।कारि.१।।

कारिकार्थः पहली कारिकामें आज्ञा करते हैं, कि जिसको पूर्णरीतिसे वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे वैदिक कर्म, स्मार्तकर्म और पौराणिक कर्मका फल प्राप्त हो तो भी वह कर्म फल नश्वर(नाशवान्) गृहकी तरह निश्चय अस्थिर(चलायमान) है।।१।।

अक्षयतृतीयाश्राद्धादि तथानन्तव्रतादि च।
समर्पितं प्रियं विष्णौ ततोऽपि फलितं तथा।।कारि.२।।
अतो नश्वरम् इत्युक्तं पृथग् भक्तिफलात् क्रमात्।
सतुलत्यातिशयध्वंसम् अन्तःकरणदोषतः।।३।।

दूसरी और तीसरी कारिकाओंमें आज्ञा करते हैं कि अक्षय तृतीयाके दिन किये हुए श्राद्धादि तथा किये हुए अनन्तव्रतादि व्रत, एवं विष्णुको अर्पण किये हुए सकाम दानादि इस प्रकारके सकर्मोंका फल कर्ताके असन्तोष स्पर्धा, ईष्यादि दोष युक्त अन्तःकरणके कारण नश्वर होते हैं, निष्काम भक्ति पूर्वक किये हुए कर्मोंके फलसे ये सकाम कर्मके फल जुदे प्रकारके हैं, अतः नश्वर कहे गए हैं।।२-३।।

ज्ञानभक्तिफले मोक्षे नायं दोषस्ततो भवेत्।
ऐश्वर्यसहितेऽप्येवम् इति दृष्टान्तसङ्ग्रहः।।कारि.४।।

चतुर्थ कारिकामें कहते हैं कि, ज्ञान तथा भक्तिके फलरूप मोक्षमें इस प्रकारका कोई दोष नहीं है. ऐश्वर्यवान् ब्रह्मलोकमें भी जब नश्वर फल है, तब अक्षय तृतीयादि फलोंमें नश्वरता हो, तो क्या विशेषता है, इसलिए यहां ये दृष्टान्तरूपमें दिए हैं।।४।।

स्पर्धासूयायुतो लोको मण्डलाधिपगोचरः।
लोकद्वयफलं तस्माद् एवमेवेति निश्चयः।।कारि.५।।
अतो मोक्षफले हेतुः मूलभूतस्तमाह हि।

जैसे मण्डलेश्वरोंको स्पर्धा, ईर्ष्यादि दोषयुक्त होनेसे वैसे ही ईर्ष्यादियुक्त लोक ही फलरूपमें मिलते हैं, वे जैसे नश्वर हैं, वैसे अक्षय तृतीयादि कर्मोंके फल भी नश्वर होनेसे दृष्टान्तरूपमें दिए हैं, जिस ज्ञानभक्तिका फल निर्दोष मोक्ष है, उस ज्ञान भक्तिकी क्रियामें मूलभूत हेतु वैराग्य है. अतः यहांसे वैराग्यका उपदेश किया गया है. सारांश यह है कि ज्ञानी एवं भक्तको इहलोक परलोकके विषयोंसे वैराग्य करना आवश्यक है।।५।।

ज्ञानी एवं भक्तको वैराग्य क्यों करना आवश्यक है, जिसका कारण यह है छः श्रुतिने ''तद्यथा इह कर्म चितोलोकः क्षीयते एवमेव अमुत्र पुण्याचितोलोकः क्षीयते'' इसमें कहा है कि कर्मसे अर्जित इस लोकका सुख जैसे नश्वर है वैसे ही पुण्यसे अर्जित स्वर्गादि परलोकका सुख भी नश्वर है. अतः इन दोनोंसे वैराग्य

करना उचित है. आचार्यश्रीने स्वर्गका अर्थ आश्रय सुखकर निष्काम सुकृतिको वह आत्मसुखरूप स्वर्ग मिलता है, यों कर एक रहस्य निबन्धसे सर्वनिर्णय प्रमाण प्रकरणमें समझा दिया है.

अब इस संसारसे निकलकर भगवदानन्द प्राप्तिकेलिए मनुष्यको वैराग्य प्राप्तकर भगवद्शरणागति अवश्य कर्तव्य है, किन्तु भगवद्शरणागतिसे प्रथम गुरुकी शरण लेना उचित है.

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्।। २१।।

श्लोकार्थः अब प्रबुद्ध योगेश्वर गुरु शरणागतिका उपदेश देते हैं, जिसको भगवद्प्राप्ति वा मोक्षकी जिज्ञासा है, जो शब्द ब्रह्म(वेद)में निष्णात् होकर सर्व सन्देह निवृत्त करें, न केवल इतना ही, किन्तु परब्रह्मके स्वरूप लीलादि तत्त्वके रहस्यको हृदयंगं जिसने किया हो, ऐसे उत्तम गुरुकी शरण लेनी चाहिये जो गुरु स्वयं जीवन मुक्त होकर शिष्यके हृदयमें भगवत्तत्त्वको स्थिर कर सकें, वैसे इन्द्रियजेता ब्रह्मनिष्ठ गुरु करना चाहिये।।२१।।

यद्यपि वैराग्यान्तर भगवत्प्राप्ति आवश्यक है, किन्तु उससे भी पहले गुरुकी शरण लेनी चाहिये, जिसके प्रयोजनको आचार्यश्री कारिकामें कहते हैं:

निरालम्बो यथा लोके स्थानभ्रष्टो निगद्यते।
हरेः कृपाविशिष्टोऽपि गरुहीनस्तथैव हि।।कारि.१।।
यथा भक्तिः स्वतन्त्रोक्ता गुरुसेवापि तादृशी।
जिज्ञासाशेषभावत्वं तथापि विनिगद्यते।।कारि.२।।

कारिकार्थः जैसे स्थानसे भ्रष्ट पुरुष, आधार रहित होकर भटकता रहता है, लोकमें फिर उसे कहीं भी आश्रय नहीं मिलता है. हरिकी कृपायुक्त होने पर भी जो पुरुष गुरुहीन होते हैं, उनकी भी वैसी ही दशा होती है।।१।।

जैसे भक्ति स्वतन्त्र कही गई है, वैसे ही गुरुसेवा भी वैसी ही स्वतन्त्र है, तो भी ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा अंगरूप है, उस इच्छापूर्ति करने योग्य गुरु जीवनमुक्त उपरमाश्रय(शांत स्वभाव) आदि गुणयुक्त ही होना चाहिये, वैसा गुरु ही शिष्यके हृदयमें भगवत्प्रवेश करा सकता है और वही गुरु परोक्ष तथा साक्षात् अनुभव करानेमें समर्थ होता है, गुरुमें वैराग्य गुण ही सर्वोपरि है, जिसको आचार्यश्री निम्न कारिकाद्वारा समझाते हैं।।२।।

१. प्रकाशकार कहते हैं कि ऐसा निश्चय नैष्ठिक ब्रह्मचर्य विधायक वाक्योंसे होता है.

मार्गान्तरस्थितो ह्यत्र बोधको न स्वमार्गगः।
प्रपञ्चितं तत् प्रथमे शुको वक्ता न नारदः।।कारि.१।।

कारिकार्थः जिस शिष्यको स्वयं सर्व त्यागकर केवल 'पर' प्राप्तिकी इच्छासे उपदेष्टा गुरुकी इच्छा है, वैसे अधिकारीको गुरु भी वैसा वैरागी ही चाहिये जिसका विस्तारसे वर्णन प्रथम स्कन्धमें किया गया है, सर्वत्यागी परीक्षित्का गुरु, परम विरक्त श्रीशुकदेवजी ही हुए हैं, वे ही वक्ता होकर उपदेष्टा बने, भक्तवर नारदजी वहां मौजूद थे, किन्तु वह वैसे उत्तमाधिकारी नहीं थे, अतः वह वक्ता न हुए, नारदजी श्रीकृष्णके दर्शनकी इच्छावाले होनेसे सप्तम स्कन्ध तथा यहां उन्हें वक्ता कहा है, किन्तु वे मध्यमाधिकारी हैं श्रीशुकदेवजी सर्वगुण सम्पन्नताके साथ पूर्ण वैराग्यवान् थे, अतः उत्तमाधिकारी होनेसे वक्ता बने. उत्तम गुरुमें स्नेह, श्रद्धा, एवं पूज्यभाव तथा देवत्वबुद्धि उत्पन्न होती है. मन्त्रशास्त्रोंमें भी कहा है कि मन्त्र सफल एवं सिद्धिकर, तब होते हैं, जब पहले गुरु मुखद्वारा श्रवण किये जाते हैं. अर्थात् गुरुसे दीक्षा रूपमें लिए जाते हैं।।१।।

तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।
अमाययानुवृत्त्या यैः तुष्येद् आत्मात्मदो हरिः।।२२।।

श्लोकार्थः गुरुकी सन्निधिमें बैठकर गुरुको आत्मवत् प्रिय, देववत् आदरणीय समझ निष्कपट भावसे उनकी सेवा करते हुए उनसे भागवतधर्मकी शिक्षा प्राप्त करें, जिन भागवतधर्मोंसे हरि प्रसन्न होवें, प्रसन्न होकर आत्मा तक भी दे देते हैं।।२२।।

व्याख्यार्थः गुरु सर्वज्ञ होनेसे धर्मका सर्व रहस्य बताऐंगे इस आशयसे कहते हैं, कि 'तत्र' गुरु सन्निधिमें रहकर वा उस(गुरु)में आत्मपनसे स्नेह करना, देवता जान ज्ञान प्राप्त करना. वे आराध्य हैं, इसलिए उनमें श्रद्धा करनी, मन्त्र शास्त्रमें भी कहा है कि गुरुमुखसे मन्त्र श्रवण करने चाहिये, अन्यथा निष्फल हैं. गुरुसे ही शिक्षा(उपदेश) लेनी चाहिये, गुरु प्रसन्न हो, गुह्य रहस्य भी बतावें जिसका उपाय बताते हैं कि निष्कपट भावसे उनकी सेवा करनी, भागवतधर्म ही सीखने चाहिये, जिसका कारण बताते हैं कि उन धर्मोंसे ही हरि प्रसन्न होते हैं, यदि हरि स्वयं सन्तुष्ट न होवें तो हेतु ही सिद्ध न होवे, अर्थात् जिस फल प्राप्तिकेलिए भागवतधर्म सीखे जाते हैं वह फल प्राप्त न होवें, हरिके प्रसन्न होने

पर वे अपनी आत्मा भी दे देते हैं, दुःखाभावादि, फल तो आनुषंगिक हैं।।२२।।

आभासार्थ: २३– २५ इन तीन श्लोकोंसे प्रवाहसे निवृत्ति, कर्ममार्ग और ज्ञानमार्गमें प्रवेश कहते हैं, इनके अभावमें भागवतधर्म शिक्षणका अधिकार नहीं है, प्रबुद्धजी उनमेंसे प्रथम शिक्षा प्रवाहसे निवृत्ति २३ वें श्लोकसे कहते हैं:

सर्वतो मनसोऽसङ्गम् आदौ सङ्गं च साधुषु।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम्।। २३।।

श्लोकार्थ: प्रथम जिन धन पुत्रादिमें मन आसक्त है, उनसे मनको खींच लेना अर्थात् उनमें आसक्ति न करनी, फिर भक्तोंका संग करना, भूत मात्रमें निष्कपट दया, मैत्री करना और उनको उचित आश्रय देना।।२३।।

व्याख्यार्थ: 'सर्वतः' देह, तत्सम्बन्धी स्त्री, पुत्रादि धन गृहादि जिनमें भी मन लगा हुआ है उनसे मनको खींच लेना चाहिये, क्योंकि मनसे ही सब कुछ होता है, अपने अभिलषित सिद्ध करनेवाले साधनोंमें प्रथम साधन सत्संग है, सबसे मनको खींच लेना, चञ्चल मन निराधार नहीं रह सकेगा अतः यों होना अशक्य समझ दूसरा उपाय बतलाते हैं, कि दीनों पर दया करनी, समानोंसे मैत्री रखना, उत्तमोंसे विनय और उनका सम्मान करना, यह सर्व, देश और समयानुसार जैसा उचित हो वैसे करना।।२३।।

आभासार्थ: इस श्लोकमें कर्ममार्ग करनेके सम्बन्धमें कहते हैं:

शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायम् आर्जवम्।
ब्रह्मचर्यम् अहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसञ्ज्ञयोः।। २४।।

श्लोकार्थ: शौच तपस्या तितीक्षा मौन(वृथालाप परित्याग) वेदपाठ सबसे सरल वर्ताव, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, द्वन्द्वमें समान रहना।।२४।।

व्याख्यार्थ: कर्म मार्गमें प्रवेशके विषयमें कहते हैं, भागवतधर्म शिक्षणमें कायिक, वाचनिक और मानसिक भेदसे कर्म तीन प्रकारके हैं. फिर प्रत्येकके तीन–तीन भेद हैं. कायिकके तीन भेद हैं १. शौच(मिट्टी व जलादिसे देहको पवित्र करना) २.तपस्या कायिक व्रतादिसे शरीरका शोषण ३. तितिक्षा (शीतादि को सहन करना). वाचनिक कर्मके तीन भेद हैं: १. मौन(वृथा भाषण न करना), २. स्वाध्याय(वेदाभ्यास), ३. आर्जव(सबसे सरलताके साथ मीठे वचनोंसे बोलना). मानसिक कर्मके तीन भेद हैं, १. ब्रह्मचर्य धारण करना(इसके पालनसे कामको जीतना), २. द्वन्द्वकी अवस्थामें चित्तको उत्तम रखना(हर्ष, शोक

अवस्थामें समान भाव धारण करना), ३. अहिंसाका पालन करना(इससे क्रोधको जीता जा सकता है, तथा अन्यको कष्ट नहीं दिया जाता है). इन कहे हुए कर्मोंके करनेसे कर्ममार्गमें प्रवेश और अन्तमें सिद्धि होती है।।२४।।

आभासार्थ: ज्ञान मार्गमें प्रवेशार्थ क्या-क्या करना चाहिये, वह इस श्लोकसे बताते हैं:

सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यम् अनिकेतताम्।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित्।। २५।।

श्लोकार्थ: सर्व वस्तु मात्रमें एक ही सच्चिदानन्द परमात्मा विराजते हैं यों देखना, एकाकी रहना, गृह नहीं बनाना, सादे वस्त्र पहिनने, जो कुछ देववश प्राप्त हो उसमें सन्तुष्ट रहना, इन धर्मोंके पालन करनेसे ज्ञान मार्गमें प्रवेश करनेका अधिकारी होता है, ऐसा ही ज्ञान मार्गमें प्रवेश पाकर फललाभ कर सकता है।।२५।।

व्याख्यार्थ: 'सर्वत्र' आत्मा तथा ईश्वरकी एकता सिद्ध हो जाने पर ही उस(सच्चिदानन्द परमात्मा)का सर्वत्र दर्शन होना ही 'ज्ञान' है.

सङ्गाभावो गृहाभावो वस्त्रभोजनसंयमः।
चतुष्टयं ज्ञानमार्गे साधनं सर्वदा मतम्।।कारि.१।।

कारिकार्थ: संगका अभाव, गृहका अभाव, वस्त्रका अभाव, तथा भोजनका संयम, ये चार ज्ञानमार्गमें सर्वदा साधन माने गए हैं. वस्त्र स्वल्प धारण करने, उनका संग्रह न करना।।१।।

अब सात श्लोकोंसे भक्तिमार्गका वर्णन करते हैं, क्योंकि वह वैसे ही पांच प्रकारका है.

अतः प्रथम श्लोकमें भक्तिमार्ग निर्दोष है यों सिद्ध किया है, अन्तके ७ श्लोकोंमें फल निरूपण किया है, मध्यमें १. परिचित धर्म, २. परिचय, ३. सेवकोंमें इसका प्रवेश, ४. सेवक समता, ५. उत्तम साधन, इसी तरह भक्ति प्राप्त करनेका निरूपण किया है।।२५।।

आभासार्थ: पहले भक्तिमार्ग प्रवेशार्थ साधन कहते हैं:

श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दाम् अन्यत्र चापि हि।
मनो वाक्-कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि।। २६।।

श्लोकार्थ: भागवत शास्त्रमें श्रद्धा करनी दूसरे शास्त्रोंकी निन्दा भी न

करनी, [१]मन, [२]वाणी और [३]कायाका दण्ड धारण करना, अर्थात् इनको वशमें रखना और [४]सत्य, [५]शम तथा [६]दमका आचरण करना।।२६।।

१. प्राणायामसे मनको वशमें करना. २. मौन(वृथा वार्तालापका त्याग)से वाणीको वशमें करना. ३. इच्छाओं के त्यागसे कायाको वशमें करना. ४. झूठ न बोलना यह भगवन्-मार्गमें परमसाधन है. ५. भगवान्में निष्ठा शम है. ६. इन्द्रियोंको भगवत्सेवामें ही निरुद्ध करना कहा है.

व्याख्यार्थ: प्रथम साधन-प्रमाण ग्रन्थ श्रीमद्भागवत शास्त्रमें श्रद्धा, तथा [१]अन्य शास्त्रोंका स्मरण भी न करना क्योंकि विरुद्ध शास्त्रोंका स्मरण निन्दा द्वारा ही होता है, अतः स्मरण न किया जाएगा तो स्वतः निन्दा न होगी. विरोधियोंके तार्किक युक्तियोंका अनुसंधान भी न करना कारण कि उनके अनुसंधान करनेसे फिर उनके खण्डनमें प्रवृत्ति होनेसे निन्दा ही होगी. यद्यपि २४ वें श्लोकमें ज्ञानमार्गके साधन मौनादि कहे हैं, फिर यहां कहनेका भावार्थ यह है कि मौनादि भक्तिमार्गमें आवश्यक साधन है. अतः भक्तिमार्गीयको यह सावधानता रखनी चाहिये कि मन आदि भक्तिमार्गसे विरुद्ध तो नहीं जाते हैं, तदर्थ उनका दण्ड(रुकावट) अनीहा(आलस्य) आदिसे अवश्य करें जिससे वे भगवद् धर्ममें निरुद्ध रहें.

१. जो शास्त्र श्रीमद्भागवतसिद्धान्तसे विरुद्ध है उनका त्याग करना.

भगवन्मार्गसे सत्य बोलना भगवान्को प्रसन्न करनेका परम साधन है. भक्तिमार्गमें शमका भावार्थ है, भगवान्में निष्ठायुक्त बुद्धि, वैसे ही 'दम'का तात्पर्य है, इन्द्रियोंको सांसारिक पदार्थोंसे खींचकर भगवान्में एवं उनकीसेवामें निरुद्ध करना.

'सत्य' यह वाणीका गुण है, 'शम' मनका गुण है और 'दम' कायाका गुण है. अतः इन गुणोंकी रक्षा करना आवश्यक है, क्योंकि इनकी रक्षासे वाणी, मन और कायाकी रक्षा होती है, जिनसे भगवत्स्मरण, भगवद्चिन्तन और भगवत्सेवा आदि किये जा सकते हैं।।२६।।

श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः।
जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम्।। २७।।

श्लोकार्थ: अद्भुत लीला करनेवाले हरिकी प्राकट्य लीला और गुणोंका श्रवण, कीर्तन और ध्यान करना, अपनी सकल इन्द्रियोंकी समस्त चेष्टाएं

भगवदर्थ ही करनी है।।२७।।

व्याख्यार्थ: श्रवण, कीर्तन और ध्यान ये तीन प्रेमके साधन हैं अतः श्लोकमें ये पहले कहे गए हैं. ये श्रवणादि भी शुद्ध लीला सहित अद्भुत कर्मा रसेशका ही करना चाहिये न कि, दशविध लीला सहित पुरुषोत्तमरूपका, क्योंकि उन लीलाओंमें विजातीय बहुत साधनोंके अनुष्ठित होनेसे, इसलिए ही साफ समझानकेलिए जन्म, कर्म और गुणोंके श्रवणादि पृथक् कहे हैं, 'च' पद देनेसे स्पष्ट किया है कि वे भी अद्भुत कर्माके श्रवणादि करने चाहिये क्योंकि वे ही सर्वप्रकारके जीवोंको संसारसे छुड़ानेवाले हैं. शेष इन्द्रियोंके कार्योंका प्रवेश इनमें ही होता है, क्योंकि सर्वका(इन्द्रियोंके अस्तित्वका) प्रयोजन भगवान्केलिए ही है. प्रेम सहित श्रवण-कीर्तन तथा ध्यानकेलिए ही सफल इन्द्रियोंका विनियोग हो, ऐसी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।।२७।।

आभासार्थ: इस प्रकार कितने ही समय तक सेवा करने पर जब परिचय हो जावे, तब आत्मसमर्पण करना चाहिये, जिसकी शिक्षा इस श्लोकमें देते हैं.

इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्।
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम्।। २८।।

श्लोकार्थ: यज्ञादिकर्म, दान, एकादशी, उपवासादि व्रत, जप, लौकिक, अलौकिक और अन्य जो कुछ कर्म और जो अपनेको प्रिय हों, जैसे धन गृहादि पदार्थ, एवं स्त्री, पुत्र, गृह तथा प्राण इत्यादि सबको और जो कुछ अपना समझ रखा है, उनको भगवान्को निवेदन करना चाहिये।।२८।।

व्याख्यार्थ: आत्म समर्पणके प्रकार बताते हैं कि, जो पदार्थ अपनेको प्रिय लगते हैं वे सब, पर ब्रह्म परमात्माको निवेदन करने, दत्त(दान किये हुए) का अभयदान परत्व होने पर न्यास(संन्यास) धर्म हैं, अथवा संन्यासके अलावा तीन आश्रम(ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ) के धर्म जान ले. 'वृत्त' पदका भावार्थ है, सदाचार. अपनेको प्रिय है प्रवाह, स्त्री आदि कहनेका आशय है कि वे भी अपने तुल्य हैं, 'दारान्' पद कहनेका स्वारस्य है कि अपना भाग अन्य पदार्थोंका इनमें ही अन्तर्भाव है, अर्थात् अन्य पदार्थ इन पदार्थोंके कहनेसे आ जाते हैं. देहका विनियोग पहले कहा गया है, अतः यहां 'प्राणान्' प्राण कहे हैं. इसी प्रकार कहे हुए सर्व भगवान्को निवेदन करने चाहिये, जिससे इन सर्वमेंसे अपनी अहन्ता ममता नष्ट हो जाए और अपना दासत्व सिद्ध हो।।२८।।

आभासार्थः इसी तरह विधिपूर्वक आत्म निवेदन करनेके बाद जो कृष्णके अनन्य भक्त होवें उनके साथ मिलकर भगवत्सेवादि करने यों इस श्लोकमें कहते हैं:

एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम्।
परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु।। २९।।

श्लोकार्थः भगवान् श्रीकृष्णको ही जो अपना नाथ समझते हैं, ऐसे दृढ़भाव भक्तिवाले मनुष्योंसे सौहार्दभाव करना, सेवा तो दोनोंकी यथोचित करनी. दोनोंके कहनेका आशय है, भगवान् तथा भगवदीयकी यथोचित सेवा करनी.

भगवदीयकी सेवा करनेका कारण बताते हैं, कि वे भक्तिमार्गकी सर्व प्रकारसे अपने आचरण आदिसे रक्षा करते हैं, अतः उनकेलिए महत्सु, नृषु, साधुषु, तीन विशेषण देकर उनका स्वरूपज्ञान कराया है।।२९।।

व्याख्यार्थः वैष्णवको मनुष्यमें मानवताके कारण सौहार्द(स्नेह) करना चाहिये, यह साधारण भाव है, किन्तु जो मनुष्य कृष्णको ही अपना नाथ समझते एवं मानते हैं, तदनुकूल आचरण करते हैं, उन भगवद्भक्तोंसे तो सौहार्द विशेष रूपसे करना चाहिये. 'च' पदका भाव बताते हैं, कि साधारण स्नेह तो पशु आदिको सर्वत्र करना चाहिये, 'सेवा' तो भगवान् और भगवदीय दोनोंकी करनी चाहिये. भगवदीयोंकी सेवा क्यों करनी चाहिये? जिसकेलिए विशेष कारण (लक्षण) बताते हैं. जो भगवदीय महान् हों, पुरुष हों, सम्प्रदायकी सर्व प्रकार सदाचारादिसे रक्षा करनेवाला हो, दम्भी न हो, उनकी यथोचित सेवा(आदरभाव, सत्कार) करनी चाहिये. यों कहकर स्त्री, पशु और कनिष्ठ योनिके जीवोंके साथ विशेष स्नेह करना एवं उनकी सेवा करनेका निषेध किया है.

महत्सु, नृषु और साधुषु तीन विशेषणोंसे स्पष्ट है कि सेवा एवं समादर करनेके योग्य तथा उपदेष्टाके योग्य तो आचार्यादि ही हो सकते हैं. वैष्णवको भी स्वतः सदाचारादि गुण सम्पन्न होना चाहिये।।२९।।

आभासार्थः फलरूप साधनका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं:

परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिः निवृत्तिर्मिथ आत्मनः।। ३०।।

श्लोकार्थः वैष्णवोंको परस्पर मिलकर भगवान्के यशका ही अनुवाद

(गान) करना चाहिये, क्योंकि वह सर्वथा पवित्र करनेवाला है, और परस्पर रति, तुष्टि और परमानन्द देनेवाला है तथा प्रभु भी इससे प्रसन्न होते हैं।।३०।।

व्याख्यार्थ: जहां वैष्णव जन मिलकर परस्पर भगवद्यशोगान करते हैं वहां जाकर वह श्रवण करे एवं, शिक्षा प्राप्त करे, यह भगवदीयका प्रथम एवं परम कर्तव्य है, स्नानसे ही हम पवित्र होते हैं, ऐसी भ्रान्ति व आसक्ति निवृत्त हो तदर्थ यहां 'पावन' पद देकर बताया है कि वास्तविक सर्व प्रकारकी पवित्रता तो भगवद्यशोगानसे ही होती है, तथा यशोगानसे भगवान् भी प्रसन्न होते हैं, श्रवण और कीर्तन परस्पर मिलकर करनेसे आपसमें प्रेम बढ़ता है, तथा हृदयमें सन्तोष होता है. ये दोनों आदि और अन्तके धर्म हैं एवं इन श्रवण तथा कीर्तनके अनुसंधान करते हुए परम सुखकी भी प्राप्ति होती है. ये तीनों(प्रीति, तुष्टि और निवृत्ति) धर्म साधनरूप हैं, तो भी वे फलरूप बन जाते हैं, 'आत्मनः' पदसे ये धर्म अन्तःकरणके हैं, यों जाना जाता है, किन्तु ये आनन्दरूप होनेसे फलरूप हैं अतः इनकी बारंबार आवृत्ति करनी चाहिये।।३०।।

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्।।३१।।

श्लोकार्थ: भगवद्भक्त जब परस्पर भगवदीय मण्डलीमें मिलते हैं तब पापोंके समूहके हरण करनेवाले हरिका स्वयं स्मरण करते हैं, तथा अन्योंको स्मरण कराते हैं, इसी तरह जब श्रवण, कीर्तन, स्मरणादि, भक्तिके उद्रेकसे प्रेम भक्तिका प्रवाह उनमें उमड़ता है, तब उसके स्रोतके वेगसे भगवदीयों के शरीर रोमाञ्चित एवं पुलकित हो जाते हैं, वाणी गद्–गद् तथा आंखे अश्रूपूर्ण हो जाती है, जिससे आनन्दोदधिमें(आनन्दके समुद्र)में मग्न हो संसारको भूल जाते हैं।।३१।।

व्याख्यार्थ: असकृत भगवत्स्मरण करनेवालोंको जो अवान्तर फल मिलता है उसका वर्णन इस श्लोकमें किया है. जिन मनुष्योंको भगवान्में रति(प्रेम) आदि उत्पन्न हुई है, उनका भी मन चञ्चलताके कारण अन्य विषयोंमें चला जाता है, तो भगवद्विस्मरण हो जाता है, अतः वह विस्मरण(भूल) न हो इसलिए वे भगवदीय परस्पर मिलने पर स्वतः(अपने आप) 'जय श्रीकृष्ण' कहकर स्मरण करते हैं और अन्यको भी स्मरण कराते हैं, जुदा 'श्रवण' पद न देनेका यही आशय है कि स्मरण तथा स्मारण(स्मरण कराने)से उसकी चरितार्थता

हो जाती है. विस्मरणमें निषेधवचनोंका किसी प्रकारका बल नहीं है. कारण कि विस्मरण होवे तो पापोत्पत्ति होती है. हरिस्मरणसे पूर्व ही पाप समूहोंको हरि नष्ट कर देते हैं. यदि पाप मौजूद हो तो हरिका स्मरण हो नहीं सकता है. अतः स्मरणके बाद प्रभु पापोंको नाश करते हैं, यों नहीं समझना चाहिये, यदि यों समझा जावेगा तो स्मरणका फल पाप नाश हो जावेगा. वैसा नहीं है क्योंकि पाप नाश तो स्मरणसे पहले ही हो जाते हैं और स्मरणके बादमें तो दोषरूप दुःखादि नाश होते हैं, जिससे बिना किसी छिद्र(दोष) वाली श्रवण कीर्तनादि सम्पत्ति प्राप्त होने पर सर्वतः झरनेके जलके समान प्रेमाभक्ति उत्पन्न होती है. उस प्रेमाभक्तिसे भगवदीय शरीरमें सर्वत्र वह भक्ति रसवत् व्याप्त(फैल) हो जाती है, जिससे उस शरीरमें गाढत्वके कारण पुलकादि उत्पन्न होते हैं, उस समय भगवदीय, भगवद् रसमें निमग्न हो जानेसे संसारको भूल जाते हैं।।३१।।

आभासार्थः इस तरह भगवदीय, पूर्ण भगवद्रसमें मग्न हो भगवत्प्राप्ति पर्यन्त क्या करते हैं जिनका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं:

क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद् हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन् त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः।।३२।।

श्लोकार्थः वे भगवदीय, अच्युत भगवान्का चिंतन(प्रभुसे मिलन केलिए उन प्रभुको) मनसे ढूंढ़ते हैं, जब वह नहीं मिलते हैं, तो रोने लगते हैं इतनेमें ऐसा स्फूरण होता है कि भगवान् तो सामने खड़े हैं, तो हंसने लगते हैं, और समझते हैं कि भगवान् तो हमारे वश हो गए हैं, इसलिए प्रसन्न होते हैं. अनन्तर प्रेममत्त हो जानेसे जो मुखमें निकलता है वो ही बोलते रहते हैं इत्यादि अवस्था के कारण वे लौकिक प्रवाहसे पृथक् हो जाते हैं. भगवल्लीलाओंकी स्फूर्ति(ध्यान) आ जानेसे नाचने और गाने लगते हैं. विशेष अवस्थामें वे लीलाएं भी स्वयं करते हैं. इस तरह परमानन्दावस्थाको प्राप्तकर शान्त हो जाते हैं, और अन्तिम निवृत्ति सुखके रसमें मग्न हो जाते हैं।।३२।।

व्याख्यार्थः भगवदीय जब इस प्रकार रससे पूर्ण हो मत्तावस्थाको प्राप्त कर लेते हैं, तब भेद मिट जानेसे भगवान्को ढूंढ़ने लगते हैं, ढूंढ़ते-ढूंढ़ते जब यों समझने लगते हैं कि मानो प्रभु मिले नहीं, तब रोने लग जाते हैं. फिर उन(प्रभु)को पासमें ही खड़े देखकर कहने लगते हैं कि हमने तो फिजूल रुदन किया ये तो यहां ही विराज रहे हैं यों कहकर हंसने लगते हैं. अब तो भगवान् हमारे वशमें हो गए हैं,

यों मानकर प्रसन्न होते हैं, इसके बादमें सर्वज्ञता आनेसे मत्तावस्था हो जाती है, जिससे ज्यों मुखसे अपने आप जो निकलता है सो बोलते रहते हैं, इन कारणोंसे वे संसार प्रवाहसे अलग हो जाते, अर्थात् दुनियाकी विचार भावनासे अलग हो जाते हैं, काया, मन और वाणीमें जो अध्यास रहा है उसका फल कहते हैं, कायासे नाचते हैं, वाणीसे भगवान्के गुणानुवाद गाते हैं और मनसे भगवान्की लीलाओं का मनन करते हुए जब तन्मय(अनुरागसे पूर्ण हो जाते जाते हैं, तब शरीरसे उन लीलाओंका अनुकरण करते हैं इस प्रकार उन(भगवदीयों) का इन्द्रियोंमें अध्यास सार्थक और हितकारक हैं, इन सबसे वे मौनावस्था प्राप्त करते हैं, क्योंकि परम रस प्राप्तकर वे आनन्दी बन जाते हैं(जैसा कि श्रुति कहती है ''रसं लब्ध्वा आनन्दी भवति'')।।३२।।

इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया।
नारायणपरो मायाम् अञ्जस्तरति दुस्तराम्।।३३।।

श्लोकार्थः इस प्रकार भागवद् धर्म सीखनेसे तथा उनका आचरण करनेसे भक्ति उत्पन्न होती है, भक्तिसे भक्त, नारायण परायण बनता है. नारायण परायण होते ही शीघ्र इस दुस्तर माया सागरको वह पार कर जाता है।।३३।।

व्याख्यार्थः इस प्रकार फल पर्यन्त भागवद् धर्म कहे हैं, उनकी शिक्षासे अर्थात् उन पर आचरण करनेसे भगवान्के परायण होने पर वही माया अपने स्वामीके पास स्वयं उस भक्तको ले जाती है. भागवद्धर्मोंके शिक्षणसे ही भक्ति होती है, उस भक्तिसे मनुष्य नारायणके परायण होता है।।३३।।

नारायणः परो यस्य परत्वं कीदृशं मतम्।
मार्गान्तराद् चेद् उत्कर्षो विषयो ह्येक एव हि।।कारि.१।।

कारिकार्थः जिसका नारायण पर(परमेश्वर) है उसका परत्व कैसा माना गया है? यदि मार्गान्तरसे उत्कर्ष है तो निश्चयपूर्वक भक्ति, ज्ञान और कर्म मार्गका भगवान् एक ही है, यदि मार्गका परत्व माना जाता है तो तीनोंका परत्व मानना चाहिये?।।१।।

प्रकारश्चेद् धर्मपरो विषयः कीदृशः परः।
उत्कृष्टबुद्धिः सिद्धैव ततो निष्ठावशिष्यते।।कारि.२।।
तद्धर्माणां न निष्ठात्वम् अतः पृच्छति संशयात्।

नारायण शब्दका अर्थ नरके अयनका यह नारायण, यह यौगिक अर्थ

लेना अथवा रूढ प्रसिद्ध अर्थ ग्रहण करना चाहिये? यौगिक पक्षका अर्थ लेनेसे क्या समझा जावे? 'धर्म' या 'मार्ग'? धर्म भी कैसा लिया जाए? भगवन्निष्ठ धर्म विषय है, तब तो विषय भगवद्धर्म होगा, अतः किस प्रकारका परत्व माना जाए? यदि कहो, इतना श्रवण करने पर भी आपकी बुद्धिमें परत्वका ज्ञान नहीं हुआ है? जिसका उत्तर राजा देता है, कि उत्कृष्ट बुद्धि तो सिद्ध हो गई है, अर्थात् परत्व हमने समझ तो लिया है, किन्तु उसकी निष्ठा(पराकाष्ठा) जाननेकी इच्छा है. उसके धर्मोंकी तो(पराकाष्ठा) जाननेकी इच्छा है. उसके धर्मोंको तो पराकाष्ठा नहीं है. इस संशयसे पूछता हूं. आप ब्रह्मविदोंमें उत्तम हैं, अतः हमको वह सुनाइए।।२।।

राजोवाच

नारायणाभिधानस्य ब्रह्मणः परमात्मनः।
निष्ठाम् अर्हथ नो वक्तुं यूयं हि ब्रह्मवित्तमाः।।३४।।

श्लोकार्थः राजा(जनक) कहने लगे, हे योगेश्वरों! नारायण जिनका केवल नाम ही है, वैसे परमात्मा ब्रह्मकी निष्ठा हमको कहिये क्योंकि आप ब्रह्मविदोंमें उत्तम है।।३४।।

व्याख्यार्थः नारायणकी निष्ठा ज्ञान अति गूढ है, प्रत्येक इसको नहीं जानता है. इस रहस्यको आप जानते हैं. क्योंकि आप ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ है. 'नारायण' यह केवल नाम मात्रका ही भेद है, अतः श्रुति तथा स्मृतिके अनुकूल जो सिद्धान्त हो, वह कहिये।।३४।।

आभासार्थः उपरके प्रश्नोंका उत्तर निम्न ६ श्लोकोंसे पिप्पलायन नामके योगेश्वर देते हैं कि 'भगवत्व' ही इसका उत्तर है.

पिप्पलायन उवाच

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य यत् स्वप्नजागर–सुषुप्तिषु सद् बहिश्च।
देहेन्द्रियासु–हृदयानि चरन्ति येन सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र।।३५।।

श्लोकार्थः पिप्पलायन योगेश्वर कहने लगे कि हे राजन्! प्रभु स्वयं अकारण होते हुए भी इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयके कर्त्ता बनकर कारण हो जाते हैं, तथा जो भगवान् इस जगत्के जीवोंकी स्वप्न, जाग्रत एवं सुषुप्ति अवस्थामें अन्तर्यामी स्वरूपसे साक्षी हो जाते हैं, और समाधि अवस्था तथा मोक्षदशामें आनन्दरूपसे अनुभव कराते हैं, एवं जो सर्वत्र व्याप्त हैं, तथा

जिनके व्यापकत्वके कारण देह, इन्द्रियां, प्राण और अन्तःकरण आदि चेतनत्व पाकर ही क्रिया कर सकते हैं, वह भगवान् 'पर' स्वरूप हैं।।३५।।त्

व्याख्यार्थ: वाणीके अधिपति अग्निरूप हैं, इसलिए तीनों मार्गोंसे परत्व करना चाहिये, जिसमें अपने मतानुसार स्वरूप सम्बन्धी भेदसे दो श्लोकोमें परत्व कहते हैं, पहले स्वरूपको कहते हैं, भगवान्का परत्व तीन प्रकारसे हैं १. उत्कृष्टत्वसे, २. भिन्नत्वसे और ३. नियन्तृत्वसे. इन तीनोंमें भगवान्का उत्कृष्टत्व इसीलिए है कि आप जगत्के मूल कारण हैं. तीनों अवस्थाओंसे (जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति)में साक्षीरूपसे विराजते हैं. मोक्ष तथा समाधिमें आनन्द रूप अनुभव कराते हैं, जिनसे आपका भिन्नत्व भी रहता है. जीवके परिकर, देह, इन्द्रियां, प्राण, और अन्तःकरणके उज्जीवक होनेसे आपका सब पर नियन्तृत्व है. अतः आप नियामक भी है; हालांकि यह त्रिविध परत्व [१]साधारणधर्म हैं, किन्तु तो भी भक्तिमार्गमें भगवान् असाधारण हो जाते हैं, कारण कि उसकी (भक्तिमार्गकी एवं भक्तिमार्गीयोंकी) उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आप स्वयं प्रवाहके विलक्षण प्रकार द्वारा करते हैं. तीनों अवस्थाओंमें भक्तिमार्गके और उसके अनुयायियोंके सर्व प्रकार हितकर्ता आप ही हैं, ओर समाधि तथा मोक्षमें भी उनको सुखकी परमानन्दकी प्राप्ति हो तदर्थ उनके देहादिके विनियोगके संयोजक भी आप बनते हैं, भागवतके 'विचिकीर्षितो मे' इस वाक्यके अनुसार भक्तिमार्ग मुझे प्रिय है अतः जिन भक्तोंने सर्व लौकिक आदि त्याग कर मुझे सर्व समर्पण किया है, उनको सर्वथा आनन्द प्राप्त होता रहे यही मुझे इष्ट है।।३५।।

१. जीवका कर्तृत्व आदि धर्म साधारण हैं कारण कि उसका कर्तृत्व भगवान्के आधीन है.

नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा प्राणेन्द्रियाणि च यथानलमर्चिषः स्वाः।
शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयात्ममूलम् अर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः।।३६।।

श्लोकार्थ: जैसे अग्निकी अपनी ही अंशरूप ज्वालाऐं अग्निके स्वरूप का प्रकाश नहीं करा सकती है, वैसे मन उस पर स्वरूपमें प्रवेश नहीं कर सकता है एवं वाणी, चक्षु, आत्मा, प्राण, इन्द्रियां ये सब परस्वरूपका ज्ञान नहीं करा सकते हैं. इसी तरह वेदादि शास्त्रके शब्द भी भगवान्के परस्वरूपका बोध यही है, इतना है, ऐसा है, यों पूर्णतया नहीं करा सकते हैं, वेदादि भी कहते हैं कि परब्रह्म चक्षु आदि इन्द्रियोंसे अगोचर हैं, वेद भी अर्थानुसार जितना कहा जा सकता है, उतना

ही निरूपण करता है. अर्थात् परस्वरूपके पूर्णतः इदं इत्थं तया(इस तरह) वर्णन करनेमें सर्व असमर्थ है. यदि सर्वसे विलक्षण यह मूल स्वरूप न हो तभी यह स्वरूप चक्षु आदिसे ग्रहण किया जा सकता है, इत्यादि निषेध वाक्योंकी सिद्धि भी नहीं हो सकती।।३६।।

व्याख्यार्थ: स्वरूपतः परत्व समझानेके अनन्तर सम्बन्धी पक्षका निवारण करते हैं, उत्कृष्ट सम्बन्धित्वसे जो ज्ञान हो वह तत्वसे ज्ञान है किन्तु उससे धर्मीका ज्ञान होना अशक्य है. इसलिए कहते हैं कि 'न' जो ज्ञान वेद प्रचेतोंसे भगवद्विषयक होना कहा जाता है, वह सम्भावना मात्र ही है. वास्तवमें ज्ञान होता नहीं है, क्योंकि चक्षु आदि जो करण(ज्ञानके साधन) हैं, उनमें ज्ञान(जान लेने) की सामर्थ्य नहीं है, मन पूर्वरूप है, वाणी उत्तररूप है, अतः जैसे सामान्य लक्षणसे एवं ज्ञान लक्षणसे प्रवाह रूप लोकके पदार्थके स्वरूपोंका ज्ञान होता है, वैसे इनसे परमात्म स्वरूपका ज्ञान नहीं होता है. कारण कि वेदोंमें इस दृश्य लौकिक प्रयत्नसे नामात्मक प्रपञ्च भिन्नता सिद्धकी गई है. अतः लौकिक प्रपञ्च बंधक है और नाम प्रपञ्च संसारसे मोचक है. लौकिक दृश्य प्रपञ्च अनित्य है और वेद(नाम प्रपञ्च) नित्य है, कारण कि, वह, आधिदैविक तत्वका प्रतिपादन कर मायासे मुक्त कराता है. वेद व्यतिरिक्त योगादि भी भगवत्तत्वका पूर्ण ज्ञान, करानेमें असमर्थ है. योगमें मनो निरोधका उपदेश है, वह निरोधित मन भी परमतत्व ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं हैं. 'उत्त' पदसे यह सूचित किया है कि लौकिक साधनों तथा उपाय भी उसके ग्रहण करनेमें असमर्थ हैं. बाह्य ज्ञानशक्ति (चक्षु) आन्तर ज्ञानशक्ति(अन्तःकरण) और क्रियाशक्ति(प्राण तथा इन्द्रियां) और उसके देवता भी उसके ज्ञान प्राप्त करनेमें अशक्त हैं. योगसे निरुद्ध चक्षु आदि भी क्यों नहीं प्राप्त कर सकती है, जिसका कारण यह है कि कठोपनिषदमें ''पराञ्चि खानि'' श्रुतिसे यह सिद्ध है कि इन्द्रियां बहिर्मुख हैं अतः वे परमात्माको पहुंच नहीं सकती है.

इस विषयको समझानकेलिए लौकिक दृष्टान्त दिए हैं कि जैसे अग्निकी अपनी चिनगारियां अग्निसे सम्बन्धित होते भी, अन्य पदार्थको तो प्रकाश देती है, तथा जलाती भी है किन्तु अग्निको न प्रकाश दे सकती है और न जला सकती है, वैसे ही मन आदि इन्द्रियां भी बाहरके सर्व पदार्थोंको तो देख एवं जान सकती है किन्तु उस परमात्माको नहीं जान सकती है, वे तो प्राणके प्राण, चक्षुके चक्षु,

श्रोत्रके श्रोत्र आदि सबकी मूल है.

शंका: यदि वे वागादि अविषय हैं तो ''तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'' इस श्रुतिकी चरितार्थता कैसे होगी? इस पर कहते हैं कि शब्द भी अर्थात् वेद शास्त्र भी आत्मब्रह्मका प्रमाण होते हुवे भी साक्षात् निरूपण नहीं कर सकती है, केवल तात्पर्यार्थसे ही इंगित कर देते हैं, जो यों भी न करे तो निषेधकी सिद्धि न हो सके?

वेदसे भगवान्का ज्ञान तीन तरहसे होता है, १. स्व(स्वतन्त्र) करणसे २. स्वबोधिक करणसे और ३. निज हेतुत्वसे. वेदमें दो काण्ड हैं, एक पूर्व काण्ड जिसका अर्थ, क्रिया(कर्म) है, दूसरा उत्तरकाण्ड जिसका अर्थ 'ज्ञान' है, अतः प्रत्येक काण्डके अर्थ भी मुख्यता मानी गई है, अतः अन्य अर्थका निरूपण इन मुख्य अर्थोंके अंग तरीकेसे ही किया जाता है, नहीं तो वाक्य भेदका दोष प्राप्त होता है, यह दोष प्राप्त न हो इसलिए किसी भी काण्डका स्वतन्त्रकरणसे अर्थ नहीं किया है और न समग्र वेदका निधि शेषत्व तथा ज्ञान शेषत्य कहा गया है, किन्तु अर्थार्थके लिए कहा गया है, अर्थात् फलार्थकेलिए कहा है.

अपने उद्गम हेतुत्वसे ब्रह्म स्वयं वैसे बनते हैं, अर्थात् स्वेच्छानुसार रूप धारण करते हैं, वेद स्वयं निषेध करता है कि भगवान्का ज्ञापन इन्द्रियां नहीं कराती है, यदि यों है तो, 'ब्रह्मवित्' आप्रोतिपरं ब्रह्मवेत्ताने ब्रह्मका किस इन्द्रियसे ज्ञान किया है? जिसका उत्तर हैं कि भगवान् स्वकरणसे ही ज्ञान कराते हैं, ब्रह्मके आविर्भाव होनेमें किसी करण(इन्द्रिय)की कोई शक्ति नहीं है. इस प्रकारका ज्ञान तो पूर्वश्लोकमें निरूपण किया गया है. वेद जो वर्णन करते हैं वह वृत्तान्त, कथनमात्र है, न कि बोधक है, और वैसे शब्दका व्यापारमात्र है, न कि बोधकत्व है. जब करणका निषेध किया तो, बोधकत्व कैसे? इस पर कहते हैं, कि यदि यों ब्रह्मका कथन न किया जावे तो निषेधोंकी सिद्धि कैसे हो, एवं उनकी अवधिका ज्ञान कैसे हो? यदि ब्रह्मका निरूपण न किया जावे तो ''यतो वाचो निर्वतन्ते'' इत्यादि श्रुतियों की सार्थकता कैसे हो? ''तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति'' यह श्रुति वाक्य उपासना काण्डमें कहा गया है, तथा 'तमेकमेव' 'सर्व भावेनाश्रयेत्' इत्यादि वचनोंसे यह सिद्ध है कि उसको ही जाननेसे जीव मृत्युका उल्लंघन करता है, उस एक ही परब्रह्मको जानो, उसका ही सर्व भावसे आश्रय ग्रहण करो. इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है. उस परमात्माका ज्ञान एवं आश्रय ग्रहण

किये बिना मोक्ष नहीं, अतः वह आवश्यक है, ब्रह्म इतना ऐसा ही है ऐसा सीमित ज्ञान, ज्ञान ही नहीं है इसी तरह द्वितीय पक्ष(सम्बन्धिपक्ष) का स्वतः निवारण हो जाता है।।३६।।

१.''यतो वाचो निवर्तन्ते'' को 'अद्धावेदविदा अवेदा' जहांसे वाणी लौटती है, कौन उसको जानता है, जहां वेद भी अवेद बन जाता है.

सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकम् आदौ सूत्रं महान् अहम् इति प्रवदन्ति जीवम्।
ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत् ।।३७।।

श्लोकार्थः सत्व, रज, तमोगुण रूपा त्रिवृत्(इन तीनों गुणोंसे जकड़ी हुई) प्रकृति, यह परब्रह्मका प्रथम, एक कार्य है, दूसरा कार्य है, क्रिया शक्तिसे सूत्रकी उत्पत्ति, ज्ञानशक्तिसे महानकी उत्पत्ति तथा उससे 'अहं' जीवोपाधिरूप अहंकार, और उस(अहंकार)से उपहित चैतन्यजीव, इस प्रकारकी उपाधिवाला 'जीव' कहलाता है. क्रिया, ज्ञान, विषय तथा फल इन चार प्रकारवाले अनन्त शक्तिमान् परब्रह्म ही सर्वत्र सर्वरूपसे प्रकाशित हो रहे हैं. असत् और सत् रूपसे तथा उसके परे नियामकरूपसे भी वह मूलरूप परब्रह्म ही है।।३७।।

व्याख्यार्थः इस श्लोकमें ज्ञानमार्गके अनुसार परब्रह्मका परत्व+१ कहते हैं, ब्रह्मकी निष्ठाका भावार्थ है कि निरन्तर सर्वत्र प्रकाशका अनुसंधान, जो कुछ भास रहा है वह अन्य वस्तु नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही है यों सिद्ध करनेकेलिए अनुवाद करते हैं.

१. परत्वका भावार्थ तीन प्रकारके जो परिच्छेद हैं वे जिसमें न हो.

उत्पन्न हुए 'त्रिवृत्'(सत्त्व, रजस और तमस)से ग्रथित प्रकृतिको कार्यमें प्रेरित किया, यह प्रथम कार्य है, द्वितीय कार्य क्रिया, ज्ञान, अहंकाररूप त्रिविध जीवोपाधिरूप है, अनन्तर क्रिया, ज्ञान, विषय और फलके भेदसे ४ प्रकारके बने, तथा मध्यमें उंच-नीच और नियामक रूपसे तीनरूप हुए. सर्व शब्दका अर्थ इतना ही है. नाम और रूपका भान हो रहा है, इसलिए इसका मूल अन्य कोई होगा? इस शंकाको मिटानकेलिए कहते हैं कि 'ब्रह्मैव' ब्रह्म ही मूल है. वह जो भास रहा है, वह सर्व ब्रह्म ही है. यदि मायाको मूल माना जाएगा तो यह सब असत्य मानना पड़ेगा. असत्य पदार्थका भान नहीं होता है जैसे 'ख पुष्प'(आकाशका पुष्प) मायिक है तो उनका भान(प्रकाश) नहीं होता है. अतः मूल सत्य है, यों ही कहा गया है, वह सत्य 'ब्रह्म' ही है।।३७।।

आभासार्थः अब तीन श्लोकोंसे स्मृत्यादिमार्गसे परमात्माकी निष्ठा कहते हैं:

नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ न क्षीयते सवनविद् व्यभिचारिणां हि।
सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत्।। ३८।।

श्लोकार्थः यह आत्मा उत्पन्न नहीं होता है, मरता भी नहीं है, न बढ़ता है और न घटता है, क्योंकि यह आत्मा तो वस्तुतः इस देहके बाल्यादि अवस्थाओंका साक्षीरूपसे दृष्टा(देखनेवाला) है. यह आत्मा सर्वत्र व्यापक है, और नित्य वृद्धि आदि विकारोंसे रहित है, ज्ञान स्वरूप है. दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे प्राण उत्पन्न नहीं होते हैं वैसे ही आत्मा भी उत्पन्न नहीं होती तथा जैसे सुवर्ण मनुष्योंके ज्ञान द्वारा इन्द्रियबलसे अनेक रूपोंमें आते हुए भी अन्यथा नहीं होता है, सर्व अवस्थामें सुवर्ण ही रहता है वैसे ब्रह्म भी है।।३८।।

व्याख्यार्थः स्मृत्यादि मतमें 'आत्मा' और 'परमात्मा'में भेद नहीं है किन्तु आत्माका ही रूप परमात्मा है जो कालादिसे अभिभूत(प्रभावित) नहीं है. उस रूपका सदैव अन्तःकरणमें स्फुरण होता रहता है, वह ही उसकी निष्ठा है. ऐसी भावनावालोंको आत्मा परमात्मतत्व होते हुए भी कालादिसे अभिभूत होनेवाली अवस्थामें स्वभावसे दोष सम्बन्ध होनेसे सदोष भासेगा, इस शंकाको मिटानकेलिए पहले उसमें ऐहिक दोषोंका अभाव 'नात्माजजान' श्लोकसे सिद्ध करते हैं.

जिनका संघातमें जन्म हुआ है, उनके विषयमें ही संदेह होता है. इस विषयमें भक्तिमार्ग और ब्रह्मवादमें तो जीवके जन्म मरण ये दो धर्म माने गए हैं, अन्य धर्म नहीं, जन्मका अर्थ समागम है; अर्थात् आत्मत्वसे स्वीकार जन्म है. जैसे कि कहा है 'अनित्ये जननं' स्मृतिमतमें तो जीवमें चारों धर्म नहीं है, उसमें कारण यह है कि आत्मा देहके बाल्य, कुमार, युवादि अवस्थाओंके काल को जानता है. क्योंकि इसमें देहोंके आरम्भसे उत्पत्ति होती है इस मतको स्वीकार नहीं किया है. वैजात्य(जुदी जाति) के कारण ही अवस्था सहित बाह्यादि देहोंकी(जीवोंकी नहीं) उत्पत्ति अंगीकार करनी चाहिए, अर्थात् की गई है. उत्पत्तिका स्वीकार कालज्ञान बिना नहीं हो सकता है. अतः आत्माको बाल्यादि अवस्थाओंके कालका ज्ञान होता है, इस न्यायसे जन्ममरणके कालका ज्ञान भी आत्माको होता है यों अनुमान हेतु द्वारा जाना जाता है, किन्तु केवल संस्कारका

आधान(धारण) नहीं होता है 'हि' पदसे दृष्टा और दृश्यका भेद कहा. इस स्मृतिमतकी पुष्टिमें अन्य हेतु कहते हैं, ''सर्वत्रादि इन चारों पदोंसे'' जो व्यापक है, सर्वत्र है उसका जन्म नहीं होता है. जो शाश्वत् नित्य है उसका मरण नहीं होता है. जिसकी केवल उपलब्धि(प्राप्ति) है[१], उसकी वृद्धि नहीं होती है, विद् धातुका अर्थ जानना है नहीं कि क्षय अर्थ है श्रुति भी यों कहती है, तात्पर्य यह है कि इस स्मृतिमतानुसार आत्मा(जीव)के जन्म मरण, बढ़ना और घटना ये चारों धर्म नहीं है. किन्तु ये धर्म देहके हैं, जब संघात(देह) विद्यमान है तो यों कैसे माना जावे ? जिसके उत्तरमें दृष्टान्त देकर अपना सिद्धान्त स्थिर करते हैं कि जैसे प्राण जन्मते नहीं, यदि इस दृष्टान्तसे भी समाधान न होवे तो दूसरा दृष्टान्त देते हैं. ''यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत्'' सुवर्णादि धातु मनुष्योंके ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय द्वारा अनेक स्वरूपोंको धारण करने पर भी विकृत नहीं होता है. सर्व अवस्थामें सुवर्ण ही हैं; वैसे ही ब्रह्म(आत्मा) भी अविकृत रहता है. ब्रह्ममें वाणी आदिसे विकार पैदा होते हैं, न कि आत्मा स्वयं विकृत बनता है।।३८।।

१. जो किसीसे कभी भी पृथक् नहीं होता है, न उसका जन्म, मरण, तथा उसका घटना, बढ़ना होता है वह 'आत्मा' है, ये गुण, धर्म, श्रुति बताती है.

अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु प्राणो हि जीवम् उपधावति तत्र तत्र।
सन्ने यदिन्द्रियगणेहमि च प्रसुप्ते कूटस्थ आशयम् ऋते तदनुस्मृतिर्नः।।३९।।

श्लोकार्थः [१]खगयोनियोंमें, [२]मनुष्य योनियोंमें, वृक्षादि उद्भिज योनियोंमें[३], और अनिश्चित [४]स्वेदजादि योनियोंमें जब जीव इन्द्रियों सहित प्रवेश करता है, तब प्राण भी उसके पास पीछे-पीछे दौड़ता जाता है, जाग्रत् एवं स्वप्नावस्थामें देहाध्यासके कारण आत्माका पृथक् अनुभव नहीं होता है, किन्तु जब जीव सुषुप्ति अवस्थामें निद्राके कारण भौतिक संघात(देह)से पृथक् हो जाता है, उस समय इन्द्रियोंके लय हो जानेसे एवं अहंकार भी स्वप्नावस्थामें गाढ़ लयको प्राप्त होता है,एवं देहादिकी भी निवृत्ति सी हो जाती है, तब स्थानाभावके कारण आत्मा कूटस्थ हो, निर्विकाररूपसे स्थिति करता है. अतः सुषुप्तिके बाद जीवोंको उस अवस्थाका स्मरण रहता है जिससे कहते हैं कि हम 'सुखपूर्वक' सोये थे. उस वक्त किसीका ज्ञान नहीं था इससे सिद्ध है कि संघातमें निर्दोष कूटस्थ आत्मा मौजूद है।।३९।।

१. अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले. २. जरायुसे पैदा होनेवाले. ३. जलसे पैदा होनेवाले.

४. पसीनेसे पैदा होनेवाले.

व्याख्यार्थ: पूर्वोक्त प्रकारके आत्माके अस्तित्वको सिद्ध करनेकेलिए 'अण्डेषु' यह श्लोकमें कहा है जिससे यह सिद्ध है कि अन्य देहोंका सम्बन्ध जीवको है. वहां जीव भोक्ता है और कर्ता प्राण है जब जीव इन्द्रियोंको लेकर देहोंमें प्रवेश करता है तब प्राण भी जीवके समीप ही पीछे-पीछे दौड़ता है. यहां इस शंकाका निवारण करते हैं कि जब बृहदुपनिषद् श्रुत्यनुसार जीव पुरीत्तति नाड़ीमें प्राज्ञ आत्मासे मिलता है, तब कूटस्थ आत्मा देहमें है, यह कैसे बन सकता है.

अण्डोंसे उत्पन्न पक्षियोंकी योनि, पेशिनालसे बद्ध मनुष्य योनि, उद्भिज पृथ्वीको फोड़कर निकले हुए वृक्ष आदि उनकी योनि तथा अनिश्चित् जिनकी उत्पत्तिका पूर्ण रीतिसे निश्चय नहीं ऐसे स्वेद(पसीने)से उत्पन्न जीवोंकी योनि इसी तरह चार प्रकारकी जीव योनियां है. संघात प्राण और जीव दोनों गमन करते है. अतः दोनों संघातसे भिन्न हैं जिससे देहधर्मसे उनका सम्बन्ध नहीं है, पृथक् होते हुए भी अनुभव तो होता ही है, यों सिद्ध करनकेलिए कहा है कि 'सन्ने', जब इन्द्रियगण तथा अहंकार सुषुप्ति अवस्थामें लय पाते हैं, तब स्थानाभावसे आत्मा कूटस्थ होता है. भेद होने पर ही ब्रह्मके समीप गमन कर सकता है, अन्यथा स्वयं ही कूटस्थकी तरह रहता है. वह रहता है इसमें हमको जो उस अवस्थाका स्मरण रहता है, वही प्रमाण है, जैसा कि 'सुखमहमस्वाप्तं' सुषुप्तिके अनन्तर जाग्रत् अवस्थामें आकर रहते हैं कि हम सुख पूर्वक सो रहे थे. इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वदोषरहित कूटस्थ आत्मा संघातमें है।।३९।।

आभासार्थ: इस श्लोकमें आत्माका परत्व बताते हैं:

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या चेतोमलानि विधमेद् गुणकर्मजानि।
तस्मिन्विशुद्धउपलभ्यतआत्मतत्त्वं
साक्षाद्यथामलदृशोःसवितुःप्रकाशः।।४०

श्लोकार्थ: जब जीव, भक्तिमार्गानुसार, पद्मनाभ प्रभुके चरणोंकी प्राप्तिकी उत्कट इच्छासे परम प्रेमाभक्ति प्राप्त करता है. तब गुण और कर्मसे उत्पन्न उसके अन्तःकरणके मलनाश हो जाते हैं एवं जैसे निर्मल नेत्रवालेको सूर्यका प्रकाश सर्वदा सर्व प्रकार स्पष्ट पूर्णतः दिखता है, वैसे उस भक्तके प्रेमसे हुए निर्मल चित्तमें सर्वदा साक्षात् परमतत्त्व प्रकाशता रहता है।।४०।।

व्याख्यार्थ: उस प्रभुका परत्व कहते हैं 'यर्हि इति' अन्तःकरणमें शुद्ध आत्मानुभव ही परमात्म निष्ठा है. जगत् कारण विग्रह भगवान्का जब भक्तिमार्गानुसार अन्वेषण(खोज) करते हुए, ज्यों-ज्यों उसकी प्राप्तिकी उत्कट इच्छा बढ़ती है, त्यों-त्यों प्रेम उत्पन्न होता है, वह प्रेम बढ़कर गुण तथा कर्मसे अन्तःकरणमें उत्पन्न मलोंको नाश करता है, भक्ति बहुफलरूपा है, यों बतानकेलिए श्लोकमें, 'यर्हि' कहा है. इसी तरह जब बढ़ी हुई प्रेमाभक्तिसे मलोंके नाश हो जानेसे अन्तःकरण विशुद्ध हो जाता है तब उस अन्तःकरणमें आत्मत्वका साक्षात् दर्शन होता है. ज्ञानार्थ प्रयत्न करनेवालोंको यह होता है. सामर्थ्य विशेषयुक्त आत्मतत्व जिसके अन्तःकरणमें स्फुरित होता है, उसके अन्तःकरणकी निर्मलता भक्तिबलसे सिद्ध होती है, यों प्रमाणवाक्यसे 'अथ च' प्रति सिद्धान्तसे भी सिद्ध होता है, यों कहनेका आशय यह है कि कर्म मार्गमें ऐसे साधनोंका अभाव है.

जहां इसी तरह अन्तःकरण प्रेमा-भक्तिसे शुद्ध हो आत्मतत्वका साक्षात्कार हो जाता है, वहां तेजो वृद्धि स्वतः होती है, तदर्थ प्रेमका ही स्फुरण होता है वा प्रतिबिंबमें प्रतीत होती है? इस शंकाका निवारण मूल श्लोकमें 'साक्षात् आत्मतत्वम् उपलभ्यते' कहा है, अर्थात् प्रतिबिंबकी प्रतीति नहीं होती है, किन्तु साक्षात् आत्मतत्वके दर्शन होते हैं, ऐसा अधिकार प्रेमाभक्तिसे ही प्राप्त होता है, ऐसे अधिकारीके यहां ही आत्मतत्वका परमात्मत्व रूपसे प्राकट्य होता है, वह अधिकारी ही उसको ग्रहण कर सकता है, अर्थात् दर्शन कर आनन्दमय हो जाता है, सर्वथा उसका ही अनुसंधान करता रहता है।।४०।।

आभासार्थ: राजा जनकने भक्ति, ज्ञान और कर्म तीन मार्गानुसार भगवदाश्रयका श्रवण किया, किन्तु राजाको कर्ममार्गमें विशेष श्रद्धा है अतः फिर कर्मयोगके विषयमें प्रश्न करता है:

राजोवाच

कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः।
विधूयेहाशु कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते परम्।।४१।।

श्लोकार्थ: राजा योगेश्वरोंसे कहता है कि, हमको वह कर्मयोग बतलाइए मनुष्य शुद्ध होकर मोक्षमें प्रतिबंधक कर्मोंको शीघ्र नष्ट कर परममोक्षको प्राप्त होता है अर्थात् भगवत्प्राप्ति कर लेता है।।४१।।

व्याख्यार्थ: प्रथमपादमें प्रश्न है, तीन पादोंमें स्वमार्गानुसार फल कहा है. १. संस्कार, २. कर्मक्षय और ३. मोक्ष, इहलोकके क्रमसे प्रथम शरीरस्थ भौतिक पदार्थोंका संस्कार होता है, जैसा कि कहा है ''अस्थि चैव तेन मांसं च यजमानः संस्कुरुते''(यजमान अस्थि और मांसका संस्कार करता है) 'निर्वरुणत्वाय' (बन्धनमेंसे छूटनकेलिए) 'विराजम् अभिसम्पद्यते'(वह विराट्) पुरुषसे मिलता है, 'ब्रह्मार्पणं'(कर्म ब्रह्मको अर्पण करनेसे बंधक नहीं होता है) इस प्रकार कर्म मार्ग द्वारा मोक्ष सूचित किया है, संस्कार, कर्मक्षय एवं मोक्ष इन तीनोंका निर्णय अन्य मार्गके अविरोधसे समझना चाहिए।।४१।।

एवं प्रश्नम् ऋषीन् पूर्वम् अपृच्छन् पितुरन्तिके।
नाब्रुवन् ब्रह्मणः पुत्राः तत्र कारणम् उच्यताम्।।४२।।

श्लोकार्थ: हे ऋषीश्वरों! मेरे पिताजी इक्ष्वाकुके पास ब्रह्माके पुत्र सनत्कुमार पधारे थे, तब मैंने ऐसे ही प्रश्न किये थे परन्तु उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया, जिसका क्या कारण है? वह कहिये।।४२।।

व्याख्यार्थ: राजाको पहले कर्मयोगके विषयमें अल्प सन्देह था, किन्तु ऋषियोंको देखा कि उन्होंने कर्म करना त्याग दिया है, तब विशेष सन्देह उत्पन्न हुआ. क्या कर्मयोग ही श्रेष्ठ नहीं है, अपना दोषपूर्ण है? इनका उत्तर इसलिए नहीं दिया है कि यह बालक है, उसको कहूंगा कि कर्म असमीचीन(अनुचित) और सदोष है तो वह बालक बुद्धिसे कर्म त्याग कर देगा. इसलिए उन्होंने गीताके ''न बुद्धिभेदं जनयेत्'' को ध्यानमें रखकर उत्तर नहीं दिया है, अथवा अन्य कोई कारण है वह कहिये।।४२।।

आभासार्थ: कर्मके निर्धारसे इसका भी निर्धार हो जाएगा. अतः 'कर्माकर्मविकर्मेति' श्लोकसे एकका ही उत्तर देते हैं।।४३।।

आविर्होत्र उवाच
कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात् तत्र मुह्यन्ति सूरयः।।४३।।

श्लोकार्थ: [१]आविर्होत्र योगेश्वर उत्तर देते हैं. कर्म, अकर्म और विकर्मका स्वरूप क्या है? यह वेद ही कह सकता है, क्योंकि यह वाद(विषय) वेदका है, लौकिक नहीं है, अतः वेद विषय निर्धारार्थ लौकिक कल्पना करनी उचित नहीं है, कारण कि वेदकी आत्मा ईश्वर है, इसलिए उसके विषयमें विद्वान् लोग भी

मोहित हो जाते हैं।।४३।।

१. इन योगेश्वरको कर्मरूप यज्ञोंके स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन हुआ है अतः यह उत्तर दे सकते हैं.

व्याख्यार्थ: आविर्होत्र पहले त्रिविध कर्म और उनके प्रमाण वे समझाते हैं कि लौकिक और वैदिक विषय दोनों भिन्न हैं, कारण कि, लौकिक विषय प्रत्यक्ष आदिसे पूर्णरीतिसे समझा जाता है, किन्तु वैदिक विषय केवल वेदसे ही जाना जाता है. धर्म, देवता स्वरूप तथा कर्म इनका मूल वेद है तो भी वे प्रत्यक्षादि के बाधक नहीं है, समान शब्दोंमें सन्देह है जैसे ब्रीहिपुरोडाश इत्यादि समान शब्दोंमें दध्यादिवत् भेद[१] ही हैं.

प्रकृत प्रसंगमें शास्त्रोंमें जिन कर्मोंके करनेकी आज्ञा हैं वे 'कर्म' कहे जाते हैं, जिन कर्मोंके करनेकी आज्ञा है परन्तु वे न किये जाए तो वे अकर्म, एवं जिन कर्मोंके करनेका निषेध नहीं है वे कर्म भी अकर्म है.

'विकर्म' वह है जिस कर्मके करनेका वेदने निषेध किया है, इन तीनों पदोंका अर्थ लौकिक न होनेसे लौकिककी तरह समझमें नहीं आता है. इनका अर्थ केवल वेदसे ही समझा जाता है, वेदका अर्थ [२]परम्परासे निर्णय करनेमें आता है, तो भी, उस अर्थमें सन्देह रह ही जाता है, कारण कि 'तेषां ''प्रकृतिवैचित्र्यात् श्रुत्यर्थो बहुधोदितः'' पिता और पुत्रकी प्रकृति भिन्न-भिन्न होनेसे पुत्रने अर्थ अन्य प्रकारसे किया, अतः वेदार्थ बहु प्रकारसे हुआ है. आचार्यश्री 'निबन्ध'के 'सर्वनिर्णय प्रकरणमें' आज्ञा करते हैं कि अर्थ भिन्न हो जानेसे 'वेद'का प्रमाण संदिग्ध नहीं माना जाता है वेद संदिग्ध विषयवाला है अतः प्रमाण नहीं, यों भी नहीं कहा जा सकता है. तात्पर्य, वेद निर्दोष एवं असंदिग्ध ही है. वेदको ईश्वरके सिवाय अन्य कोई नहीं जान सकता है. वेदका रहस्य अतिगूढ़ एवं अगाध होनेसे, उसके अर्थ करनेवाले पृथक्-पृथक् अर्थ करे जिससे संदिग्धता भासे(दिखाई दे), इसमें किसी प्रकार आश्चर्य नहीं है. इससे वेद सदोष वा अप्रमाण नहीं कहा जा सकता है. वेद साक्षात् ईश्वररूप होनेसे अपना ही स्वरूप वर्णन करता है. भागवतमें शब्द ब्रह्म(वेद) की गति भगवान्ने ही कही है वेदका वास्तविक अभिप्राय क्या है? उसको न जानकर अपनी भ्रान्तिसे जो कर्म उनकी प्रतीतिमें आता है उस ही अर्थमें वेद तात्पर्यका वाद करनेवाले अपने-अपने मतके अनुसंधानसे मुग्ध हो जाते हैं, इसी मुग्धताके कारण वे वादी वेदका आशय केवल

कर्मके करनेमें ही है, उनका फल स्वर्गादि लोक ही है, यों कल्पना द्वारा सिद्ध करते हैं अतः वेदके तात्पर्य निर्णय करनेमें कल्पना करना उचित नहीं है।।४३।।

१. प्रकाश: ''इन्द्रस्थ वृत्रं जघ्निष इन्द्रियं वीर्यम्''(ते.सं.२।५।३।५) वृत्रके वधकी इच्छावाले इन्द्रका जो इन्द्रिय वीर्य वह दधि है, यों इस अनुवादमें सिद्ध है, उसी तेत्तिरीय संहितामें ''अपश्यन् पुरोडाशं कूर्मभूतं'' ऋषिगणने उस पुरोडाशको कूर्मरूपवत् देखा, ये कूर्मरूप लोकसिद्ध नहीं है, किन्तु वेद सिद्ध है एवं यज्ञादि पदार्थ लोकसे भिन्न है.

२.पितापुत्रकी परम्परासे अर्थात् पितासे पुत्रने वैदिक शब्दोंका अर्थ जैसा सुना वैसा प्रकट किया.

आभासार्थ: आविर्होत्र, अपने मतानुकूल अभिप्रायका वर्णन 'परोक्षवादो' श्लोकसे करते हैं:

परोक्षवादो वेदोऽयं बालानाम् अनुशासनम्।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा।।४४।।

श्लोकार्थ: यह वेद परोक्षवादी है, वेदवालों(अज्ञानी जीवों) का मोक्षार्थ अनुशासन करता है, जैसे रोग नाशकेलिए औषधि दी जाती है, वैसे ही कर्म-बंधनसे छूट कर मोक्ष प्राप्तिकेलिए ही वेद कर्म करने की आज्ञा देता है।।४४।।

व्याख्यार्थ: यह वेद जो कर्मका प्रतिपादक है वह फलांशमें परोक्षवाद(ही) है, क्योंकि जब जीव मोक्षफल भोगता है, तब उस समय कर्मका अभाव ही होता है अर्थात्, उस दशामें कर्म रहता ही नहीं है. यदि उस दशामें भी कर्म रहे तो फलांशमें भी लौकिक हो जावे. वास्तवमें यज्ञकी समस्त सामग्री पशु आदि भी अलौकिक ही हैं.

बालकको जैसे लौकिक पदार्थ प्रिय है, वैसे ही अज्ञानी जीवोंको लौकिक प्रिय है. अतः उनको वहांसे हटानकेलिए पहले लौकिक सुखोंका लोभ देकर अन्तमें मोक्षप्राप्ति करानकेलिए ही कर्मका विधान है, न कि, लौकिक स्वर्गादि, लोगोंकेलिए कर्मका विधान है. फलोंमें मुख्य फल 'मोक्ष' है. वेद सबसे बलवन्तर प्रमाण इसलिए हैं कि जिसको कोई भी प्रमाण नहीं समझा(बता) सके उस अर्थको वेद ही बता सकते हैं.

वेदके अनुष्ठान करनेमें बालकके समान अज्ञानी जीवोंकी अभिरुचि होवे, और श्रद्धापूर्वक वे कर्म करें, इस प्रकार वेदके लौकिक अनुशासन होनेमें

सर्ववादी सम्मत हैं.

वेद बालानुशासन परत्व है, इसमें हम भी सम्मत हैं. जब आप इसमें सम्मत हो तो स्वर्गादि, पशु, पुत्रादि, लौकिक फलोंको क्यों नहीं मानते हो? इस शंकाका उत्तर देते हैं कि सर्वफलोंमें मुख्य फल मोक्ष ही है, 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' 'तमध्यापयीत' इत्यादि वचनोंसे वेद बालकों पर अनुशासन करते हैं, अर्थात् उनको सहज कर्मोंसे हटाकर वैदिक कर्ममें रुचि कराके अन्तमें सुख प्राप्ति और दुःखाभावसे फल विचारका समाधान कर ब्रह्मात्मसुख(मोक्ष) ही फल है, लौकिक सर्व पदार्थोंसे उपरति(निवृत्ति) होनेसे स्वाभाविक कर्मोंकी निवृत्ति ही अपेक्षित है, अन्यथा वेदकी व्यर्थताकी आपत्ति होगी, अर्थात् वेद व्यर्थ हैं, जैसे रोगाधिकारमें(रोग कैसे निवृत्त हो) इस विषयमें आयुर्वेद शास्त्र प्रवृत्त हुआ है, वैसे ही 'संसाराधिकारमें'(संसारसे छुड़ानेके विषयमें) वेद प्रवृत्त हुआ है, अतः वैदिक कर्म करनेसे स्वाभाविक लौकिक कर्मों की निवृत्ति होती है, यह सिद्ध हुआ है।।४४।।

आभासार्थ: कर्मके त्यागसे विपरीत फल मिलता है अर्थात् कर्म न करना यह मुक्तिमें बाधक है, इस विषयको 'नाचरेद्' इस श्लोकमें कहते हैं:

नाचरेद् यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः।।४५।।

श्लोकार्थ: पूर्णज्ञानी दशाके अभावमें, इन्द्रियों पर जय न पानेकी अवस्थामें होते हुए भी जो, अज्ञ, और अजितेन्द्रिय मनुष्य अपनेको ज्ञानी तथा योगी समझ वेदोक्त कर्मका त्याग करता है, वह मृत्युसे मृत्यु पाता है, अर्थात् वेदोक्त कर्मके त्यागसे वेदाज्ञा न माननेका दोषी बनता है जिससे नरक यातना रूप मृत्युको प्राप्तकर तदनन्तर फिर मृत्युको प्राप्त करता है।।४५।।

व्याख्यार्थ: वेदमें कहे हुए कर्म न करनेसे जो बाधा होती है सो कहते हैं, जो मनुष्य वेदोक्त कर्मका आचरण नहीं करता है वह विकर्मी होनेसे मृत्युकी भी मृत्युको पाता है. यदि वेद, कर्मसे मुक्त करानकेलिए कर्म करनेकी आज्ञा देता है, तो जैसे 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' सर्व प्रकारके भूतों(प्राणियों)की हिंसा न करनी, यह आज्ञा दी है, वैसे कर्म न करनेकी आज्ञा क्यों नहीं दी है?

इस शंकाके निवारणार्थ कहते हैं कि, जैसे आयुर्वेद शास्त्र, रोगीको रोग निवारणकेलिए औषधिके साथ खानपानादिमें पथ्य(परहेज) भी बताता है, केवल

पथ्यसे रोग निवृत्ति नहीं होती है, औषधि लेना भी आवश्यक है, वैसे ही संसार रूप रोगसे मुक्त होनेकेलिए वैदिक कर्म कर्तव्य रूप औषधि लेना आवश्यक है; साथमें फलत्यागरूप पथ्य करनेकी वेदाज्ञा है इस प्रकारकी आज्ञा यदि नहीं मानी जाती है तो वह मृत्युसे भी मृत्युको प्राप्त होता है. ''ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन''[१] ''चित्तवृत्ति निरोधो योग''[२]

१. हे अर्जुन! ज्ञानरूप अग्नि सर्व कर्मोंको भस्म करती है.(गीता)

२. चित्तकी वृत्तियोंको अपने वशमें कर लेना योग है.(योग शास्त्र)

इन प्रमाणोंके अनुसार मनुष्यको प्रथम ज्ञान प्राप्त करना चाहिए तथा योग द्वारा इन्द्रियोंको वशमें करना चाहिए, इन दोनोंको जब तक सिद्ध नहीं किया है और वेदोक्त कर्मको त्याग कर देता है, वह मनुष्य मृत्युको प्राप्त कर फिर मृत्युको पाता है.

तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य केवल लौकिककर्म आसक्तिसे करता है वह मृत्युको प्राप्त होता है अर्थात् फिर जन्म लेनेसे मृत्युको प्राप्त करता है, किन्तु जो मनुष्य वेदोक्त कर्मका त्याग करता है, एवं विकर्मी बनता है, वह यम यातनारूप मृत्युको प्राप्त कर फिर मृत्युको पाता है।।४५।।

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः।।४६।।

श्लोकार्थः जो मनुष्य निःसंग होकर अर्थात् फलकी इच्छाओंका त्याग कर केवल वेदमें कहा हुआ कर्म ईश्वरार्पण बुद्धिसे करता है, वह नैष्कर्म्य सिद्धिको प्राप्त करता है और वह समझता है कि वेदमें कर्म करनेसे विविध फलोंकी प्राप्ति लिखी है वह केवल कर्ममें रुचि प्राप्त्यर्थ लिखी है।।४६।।

व्याख्यार्थः वेदमें कहे हुए कर्म करनेसे निस्तार(संसारसे छुटकारा) न होगा, कारण कि जैसे औषध लेनेके समय पथ्यादिका झंझट है वैसे वेदोक्त कर्म करनेके समय सहज कर्म करनेका झंझट बाधक होता है, एवं अन्य भी संगादि दोष प्राप्त होते हैं जैसे कि अन्धत्व(अन्धापन) और पंगत्व(लंगड़ापन) आदि इन्द्रिय दोष,(असमर्थ इन्द्रियों)का दोष अर्थ ज्ञान तथा फल, वाक्य भी लक्ष्यसे गिरानेमें सहायक होते हैं, तथा श्रुति और लिंगमें परस्पर विरोध दृष्टिगोचर होवें तो न्यायानुसार प्रत्यक्ष श्रुति बलवती है, अर्थात्, मनुष्य जो कर्म करता है वह इसलिए करता है कि कर्मसे मुक्ति हो, यदि यों है तो तदर्थ ''कर्ममोक्षार्थ कर्म

कुर्यात्'' ऐसी श्रुति वा लिंग मानना पड़ेगा, जिसकेलिए इस प्रकारकी 'कर्ममोक्षार्थ कर्म' श्रुतिकी कल्पना रचना करनी पड़ेगी, तो वह कल्पना, दोष साधारण नहीं है, जिसको सहन किया जाए. जबकि लिंगसे प्रत्यक्ष श्रुति बलवती है, यदि श्रुतिका आनर्थक्यता दृष्टिगोचर हो तो समझना चाहिए कि प्रमाणोंमें कोई बलवान् है कोई निर्बल है, यों माननेसे प्रत्यक्ष श्रुति बलवती है, यह दोष भी मिटता जाएगा. यदि कहो कि दोनों फलोंका समुच्चय करनेसे आनर्थक्य दोष न रहेगा, तो हमारा(पूर्ववर्ती)का कहना है कि कर्म मोक्षार्थ कर्म करने चाहिए, यह सिद्धान्त ही व्यर्थ है क्योंकि इस सिद्धान्तमें बहुत बाधाऐं आती हैं. इस पर मूल श्लोकमें स्पष्टता की गई है कि निःसंग हो.(फलेच्छा त्यागकर) ईश्वरार्पण बुद्धिसे वेदोक्त कर्म करनेसे स्वतः नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त हो जाती है, क्योंकि वैदिक होकर ही कर्म करनेमें यजनयाजनादि वैदिक कर्म ही करने पड़ते हैं, जिनके करनेमें त्याग ही है, जिस समय यज्ञादि वैदिक कर्मसे समय मिले तो उस समय असंग होकर रहे, मानस भी न करे, क्योंकि उनके करनेमें उपक्रमका विरोध होगा, अतः उस समय निसंग हो सहज कर्म भी करे तो संसर्ग दोष न होगा, कारण कि, जो कुछ करता है वह ईश्वरार्पण बुद्धिसे ही करता है, जिससे साधनोंमें वैगुण्य नहीं होता है बल्कि वेदके अभिप्रेत(इष्ट), अर्थ(कर्म)को करनेसे सिद्धिको प्राप्त करता है, तो भी अभिप्रेत फलोंका अभाव कैसे होगा? वे तो मिलेंगे ही, इसके उत्तरमें कहते हैं, वह केवल इसलिए है कि कर्म करनेमें हमारी रुचि हो, इसके सिवाय अन्य कोई तात्पर्य नहीं है, कर्त्ता, कर्मके फलोंका अभिसंधान ही न करेगा तो फलोंकी प्राप्ति स्वतः नहीं होगी, इस प्रकार वेदाज्ञानुसार स्वकर्तव्य वेदोक्त कर्म फलाभिसन्धि रहित हो, ईश्वरार्पण बुद्धिसे जो मनुष्य करता है, वह कर्म बंधनमें नहीं पड़ता है, किन्तु नैष्कर्म्य सिद्धिको सुख पूर्वक प्राप्त करता है।।४६।।

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्।।४७।।

श्लोकार्थः जिसको शीघ्र हृदय ग्रन्थिको तोड़कर मुक्ति प्राप्तिकी इच्छा है उसको विधि पूर्वक परमात्मा केशवदेवकी वैष्णवतन्त्रानुसार सेवा करनी चाहिए।।४७।।

व्याख्यार्थः इस प्रकार वैदिक कर्म योगका निर्धार कह कर अब सरल

सर्वजनीन वैष्णव कर्तव्यका निर्धार कहते हैं.

लौकिक अनर्थका नाश करनेकेलिए उपाय भी लौकिक सम होने चाहिए, क्योंकि उन(लौकिक उपायों)से ही इन(लौकिक) अनर्थोंकी निवृत्ति होना उचित है. वे लौकिक उपाय चार हैं: १. सांख्यप्रोक्त २. योगप्रोक्त, ३. पाशुपत (शैवत्व)प्रोक्त और ४. वैष्णवप्रोक्त. इन चार सिद्धान्तोंमें भी शीघ्र हृदय ग्रन्थिको खोलनेवाला वैष्णव है. परमात्माकी सेवा विधिपूर्वक करनी चाहिए, न कि जैसे विभूतिरूप देवोंका भजन पूजन किया जाता है, अर्थात् केवल पुष्टिमार्गीय प्रणालीके अनुसार ही सेवा करनेसे शीघ्र ग्रन्थिका विभेदन होता है, यदि यों करनेमें अशक्त हैं तो तन्त्रोक्त प्रकारसे भी कृष्णका ही भजन करे, अथवा मर्यादापूर्वक मिली-जुली रीतिसे करे, दोनों प्रकारसे अर्थात् शक्ति एवं इच्छानुसार करे, किन्तु पुष्टिमार्ग(अनुग्रहमार्ग)में स्थित होकर श्रीकृष्णकी ही सेवा करे।।४७।।

लब्धानुग्रह आचार्यात् तेन सन्दर्शितागमः।
महापुरुषम् अभ्यर्चेद् मूर्त्याभिमतयात्मनः।।४८।।

श्लोकार्थ: वह मनुष्य प्रथम आचार्यश्रीका अनुग्रह प्राप्त करता है, अर्थात् आचार्यश्रीसे भक्तिमार्गकी दीक्षा लेकर भक्तिमार्गका अधिकारी हो जाता है, उन्होंने(आचार्य चरणोंने) जो भक्तिमार्गकेसेवादि प्रकारका आगम बताया है, अर्थात्सेवादि करनेकी विधि बताई है, तदनुकूल वह अपने अभिमत स्वरूप (मूर्ति) द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा करे।।४८।।

व्याख्यार्थ: जिस भगवद्भजन करनेसे वेदका विरोध नहीं होता है, भजनका वह प्रकार कहते हैं, वह भजनकर्ता आचार्यश्रीसे भक्तिमार्गकी दीक्षा लेता है, जिससे अन्यमार्ग(वैदिक कर्म करने) का अधिकार उसका स्वतः निवृत्त हो जाता है, अतः वैदिक मार्ग बाधक नहीं होता है; क्योंकि उसने आचार्यश्रीका अनुग्रह प्राप्त कर भक्तिमार्गकी दीक्षा ले ली है. जिससे भगवान् भी जब उसके अनुकूल हो जाते हैं, तब देवता भी विरोध नहीं कर सकते हैं. उपनयन करनेवाले आचार्यके [१]अनुग्रहसे वेद विरोध भी नहीं है और दीक्षित हो जानेसे भगवत्सेवादिको वेद विरुद्ध विकर्मत्व भी नहीं होता है. यदि आचार्यश्री द्वारा भक्तिमार्गकी दीक्षा न लेकर स्वतः मनमानी वृत्तिसे सेवादि की जावे तो सर्वत्र दोष है, भगवन्मार्गस्थ परमभगवदीय तथा श्रीमदाचार्य चरणोंका अनुग्रह प्राप्त कर

भक्तिमार्गानुसरण करते हुए भगवत्सेवादि करनेवालेको समय पर वैदिक कर्म न करनेसे किसी प्रकार वेद विरोधादि दोष भी नहीं लगते हैं, कारण कि भगवद् भजन करनेवाला अर्थादि किसीकी कामनावाला नहीं होता है, वह निष्काम एवं निरपेक्ष होता है जिससे उसके लिए दोषकी संभावना मात्र भी नहीं है, दोष उनको लगता है जो सकाम है, और दीक्षित नहीं है कर्त्ताका संस्कार केवल कर्ममार्ग द्वारा नहीं होता है, किन्तु अन्यथा भी होते हैं. कर्म न करनेसे परलोक बाधक होगा, यह शंका भी 'आशु' पद कहकर निवारण कर दी है, अर्थात् दीक्षित हो, श्रीकृष्णकी सेवा करनेमें हृदयग्रन्थि शीघ्र खुल जाती है, जिससे वह बिना किसी रुकावटके शीघ्र ही मुक्त हो जाता है, यह सर्वमत साधारण फल है, आचार्य चरण भी आगम ही बताते हैं, अर्थात् पञ्चरात्रादि सात्त्विक शास्त्रका उपदेश देते हैं. 'महापुरुष' शब्दसे यहां 'श्रीकृष्ण' कहे हैं, 'अभिमतया मूर्त्या' पदसे यह सूचित किया है कि मूर्तियोंके अनेक प्रकारोंमेंसे भक्तजनका माखन चोर आदि स्वरूपमें ही प्रेम होता है इस विषयमें स्वभाव ही नियामक है।।४८।।

१. उपनयनादि वैदिक संस्कार कर लिए हैं, अतः उस आचार्यका भी अनुग्रह ही है.

शुचिः सम्मुख आसीनः प्राणसंयमनादिभिः।
पिण्डं विशोध्य संन्यासः कृतरक्षोऽर्चयेद् हरिम्।।४९।।

श्लोकार्थः प्रथम शौचादिके अनन्तर स्नानादिसे पवित्र होकर, एवं प्राणायामादिसे शरीरको शुद्ध कर न्यासपूर्वक रक्षा कर तथा देवताका आह्वाहन कर भगवान्के सम्मुख बैठ हरिका पूजन करे।।४९।।

व्याख्यार्थः पूर्वोक्त कर्त्ताके संस्कारके दोषोंका नाश हो तदर्थ इस श्लोकमें शौचादि द्वारा कर्त्ताकी शुद्धिका प्रकार बताते हैं.

प्रथम पवित्र होनेका प्रकार स्मृति शास्त्रोंमें कहा है, अतः वह स्मार्तधर्म कहा जाता है, जैसे कि प्रातः ब्राह्ममुहूर्तमें उठना भगवत्स्मरणादिके अनन्तर शौचादिसे निवृत्त हो दन्तधावन कर स्नानादिसे शरीरकी बाह्य(बाहरकी) शुद्धि करनी, तथा तिलक धारण करना, चरणामृत लेना, तुलसी माला पहनना आदि भगवत्सम्बन्धी कृत्य कर पश्चात् भगवान्की मूर्तिके सामने बैठना आदि शब्दसे भूत शुद्धिके प्रकार कहे हैं, वह शुद्धि भगवत्सम्बन्ध द्वारा हो जाती है न्यासविधि द्वारा देवताका आह्वाहन करना, मन्त्र द्वारा दिग्बन्ध करनेसे बाधकोंको निवृत्ति होती है इत्यादि करनेके बाद हरिकी सेवा करे, न कि प्रतिमा(मूर्ति) की, यों

कहनेका भावार्थ यह है कि मूर्तिको पाषाणादिकी प्रतिमा न समझ, मेरे उद्धारार्थ हरि ही यहां प्रादुर्भूत हुए हैं, अतः यह भगवत्स्वरूप है, ऐसी दृढ़ निश्चयात्मक बुद्धिसे हरिकी सेवा करे।।४९।।

अर्चादौ हृदये चापि यथालब्धोपचारकैः।
द्रव्यक्षित्यात्मलिङ्गानि निष्पाद्य प्रोक्ष्य चासनम्।।५०।।

श्लोकार्थः इस श्लोकमें द्रव्यादिकी शुद्धिका प्रकार इसलिए बताते हैं कि भगवत्पूजाके समय मध्यमें विक्षेप न हो अथ च अश्रद्धा न हो, अतः प्रथम पदार्थोंकी शुद्धि करनी चाहिए.

भगवद्भक्तको चाहिए कि बाहर विराजमान प्रतिमाकी(भगवत्स्वरूप) तथा हृदयस्थ भगवान्की पूजार्थ समय पर जो भी सामग्री प्राप्त हो उनको शुद्ध करे, एवं आसनका भी प्रोक्षण करे, पुनः उनसे भगवदर्चनादि करे।।५०।।

व्याख्यार्थः प्रतिमादिकी अव्यवस्था होनेसे सेवामें मध्यमें विक्षेप न हो, श्रद्धाका अभाव न हो, तदर्थ, प्रतिमा सामग्री आदिकी प्रथम इस श्लोक द्वारा शुद्धि कही है, विशेष स्पष्ट है।।५०।।

पाद्यादीनुपकल्प्याथ सन्निधाप्य समाहितः।
हृदादिभिः कृतन्यासो मूलमन्त्रेण चार्चयेत्।।५१।।

श्लोकार्थः एकाग्रचित्त हो हृदयमें भगवान्का ध्यान करता हुआ न्यास पूर्वक उस पाद्य आदि(पैर धोनेकेलिए जलादि) सामग्रीसे भगवान्का अर्चन(पूजन) करे।।५१।।

व्याख्यार्थः अनन्तर पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय आदि सामग्री शुद्ध पात्रोंमें धर, वे पात्र प्रतिमा(भगवत्स्वरूप)के समीप स्थापित करना, फिर सावधान होकर 'हृदयाय नमः' 'शिरसे स्वाहा' आदि मन्त्रों द्वारा हृदयादिका न्यास कर, ध्यानपूर्वक भगवान्को हृदयमें वा मूर्तिमें पधराकर अष्टाक्षर आदि मूलमन्त्र से हरिका पूजन करना।।५१।।

साङ्गोपाङ्गां सपार्षदां तां तां मूर्तिं स्वमन्त्रतः।
पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवासोविभूषणैः।।५२।।

श्लोकार्थः जिस मूर्तिमें सम्पूर्ण अंग विराजमान हो, तथा उपांग (सुदर्शनादि) एवं पार्षद भी हो ऐसी भगवान्की मूर्ति(स्वरूप) का अपने-अपने मन्त्रोंसे पूजन करे।।५२।।

गन्धमाल्याक्षतस्रग्भिः धूपदीपोपहारकैः।
साङ्गं सम्पूज्य विधिवत् स्तवैः स्तुत्वा नमेद् हरिम्।।५३।।

श्लोकार्थः ऐसे स्वल्पको जो आनन्दमात्र श्रीअंगसे विराज रहे हैं, उनको पाद्य, अर्घ्य, और आचमनीय स्नान वस्त्र एवं आभूषण, चन्दन, पुष्प, अक्षत, और माला आदिसे सर्व क्रिया पूर्णतः कर पश्चात् तिलक करें, अनन्तर धूप दीप तथा सामग्री समर्पण करे, यों करनेके बाद स्तोत्रोंसे स्तुति कर प्रणाम करना चाहिए।।५३।।

व्याख्यार्थः अंग, उपांग, और पार्षद सहित भगवान्के स्वरूपका प्रथम हृदयमें भावद्रव्योंसे पूजन करना अनन्तर हृदय पूजित स्वरूपको, बाहर मन्त्र द्वारा मूर्तिमें प्रकट हुआ समझ, नमन करना चाहिए।।५२।।

इस श्लोकसे बाह्य(बाहरका) पूजाका क्रम कहते हैं पाद्यादिसे मधुपर्क अभ्यंग आदि समझने, अर्थात् इन पदार्थोंसे जो क्रिया होती है वह सर्व पूजाकी क्रिया करनी चाहिए. चावल, और माला अर्पण करनी चाहिए अथवा रंगे हुए चावल अर्पण करने पश्चात् प्रणाम करना, यह प्रणाम पूजाका समाप्तिका सूचक है. स्तोत्रपद स्तुति करना और नमन पूजासे सम्बन्ध नहीं रखते हैं, इसलिए 'त्वा' प्रत्यय दिया है, अथवा स्तुति, पूजा और नमन तीनों पृथक् हैं।।५३।।

आत्मानं तन्मयं ध्यायन् मूर्तिं सम्पूजयेद् हरेः।
शेषाम् आधाय शिरसि स्वधाम्न्युद्वास्य सत्कृतम्।।५४।।

श्लोकार्थः अपनी आत्माको भगवन्मय समझे अथवा उनसे(भगवान्से) व्याप्त जाने, ऐसी भावनाकर हरिके मूर्ति(स्वरूप)का ध्यान करते हुए हरिका सम्यक् प्रकारसे प्रेमपूर्वक पूजन करे, भगवत्प्रसादी मालाको शिर पर धरके पूजित उस भगवत्स्वरूपको पोढ़ाके फिर शयन मंदिरमें शय्या पर शयनार्थ स्वशक्तियोंमें लीला करे इस, भावनासे विराजमान करे।।५४।।

व्याख्यार्थः भिन्न प्रकारसे भगवन्मूर्तिकी पूजा नहीं करनी चाहिए, कर्त्ता(पूजा करनेवाले) के नियम कहते हैं कि कर्त्ताको अपनी आत्मा भगवद्रूप है वा भगवान्से व्याप्त है यों भावना कर ध्यान करना चाहिए, मन्त्रके सम्बन्धसे ही मूर्तिमें भगवान् पधारे हैं, न कि हमारेमें भगवान् पधारे हैं जिसकी पुष्टिमें कहते हैं किसेवा करनेवालेको भगवत्स्वरूप(मूर्ति) की प्रसादी मालाको सिर पर धारण करनी चाहिए हृदयमें संस्कृत हुए आत्माको तन्मय जान ध्यान करना मन्त्र

सम्बन्धके कारण ही आत्मासे भगवत्स्वरूपका सर्वदा नियत सम्बन्ध है।।५४।।

एवमग्न्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः।
यजन् ईश्वरम् आत्मानम् अचिराद् मुच्यते हि सः।।५५।।

श्लोकार्थः इसी तरह जो मनुष्य अग्नि, सूर्य, जल, अतिथी और अपने हृदयमें स्थित आत्मस्वरूपकी पूजा करता है, वह शीघ्र ही मुक्ति पाता है।।५५।।

व्याख्यार्थः इसी तरह जो मनुष्य, अग्नि, सूर्य, जल तथा ब्राह्मण एवं अतिथी और हृदयमें आत्मस्वरूपसे नियामक होके सदा विराजमान भगवान्की पूजा तथासेवा नित्य प्रेमसे करता ही रहता है, वह मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति पाता है, 'हि' पदसे निश्चियता कही है, एक बार भी जो इसी तरह सर्व समर्थ भगवान्को सर्व, व्यापी समझ और सबका नियामक जान उपरोक्त सर्व पदार्थोंसे भावनापूर्वक भजन करता है, वह स्वरूपमें बिना विलम्बके स्थित हो जाता है।।५५।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण एकादश स्कन्धकी श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी(संस्कृत टीका) के जीव मुक्ति(ब्रह्म, भावमुक्ति) प्रकरणके तृतीय अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण

अध्याय ४

भगवान्‌के अवतारोंका वर्णन

माया–तत्तरणज्ञान–कर्म–निर्णय–बोधनैः।
शुद्धचित्तः शुद्धलीलां हरेः पृच्छति मुक्तये।।कारि.१।।
तृतीयेयं समाख्याता कक्षा हरिकथा सदा।
श्रोतव्येति यतशिचत्तं सर्वथा तत्परं भवेत्।।कारि.२।।

कारिकार्थः माया उसके करण(साधन) ज्ञान निर्णय और कर्म निर्णय इन सबके स्वरूपके समझ लेनेसे जिसका चित्त शुद्ध हो गया है, वह मुक्तिकेलिए हरिकी लीलाओंको पूछता है।।कारि.१।।

हरिकी कथा सदैव सुननी चाहिए यह तीसरी श्रेणी है, जिससे श्रोताका चित्त सर्व प्रकारसे भगवान्‌के परायण हो जाता है।।कारि.२।।

राजोवाच

यानि यानीह कर्माणि यैर्यैः स्वच्छन्दजन्मभिः।
चक्रे करोति कर्ता वा हरिस्तानि ब्रुवन्तु नः।।१।।

श्लोकार्थः सर्व प्रकारके दुःखोंको हरण करनेवाले हरिने स्वच्छन्दता पूर्वक जो–जो अवतार धारण कर भक्तोंके कर्म व बन्धनोंको प्रमेय बलसे जोड़नकेलिए जो–जो चरित्र किये, कर रहे हैं, और करेंगे वो कृपया हमको कहिये।।१।।

व्याख्यार्थः काल भेदसे(भिन्न–भिन्न कालमें भिन्न–भिन्न चरित्र) करण भेदसे(भिन्न–भिन्न साधनों द्वारा भिन्न–भिन्न चरित्र) और स्वरूपकी विजातीयतासे[१] जो पृथक्–पृथक् चरित्र किये वे सब हमको सुनाइये.

१. भिन्न–भिन्न प्रकारके रूप धारण कर.

पृथक्–पृथक् कालमें पृथक् चरित्र करनेसे, उस कालमें जो काल कृत भक्तोंमें दोष थे वे निवारण किये. पृथक् प्रकारके साधन(विविध योनियोंमें लिए हुए अवतार) द्वारा वैसे प्रकारके जन्मवालोंके कर्मों(दोषों)को मिटाया, सजातीय कर्मकृत दोषोंको उन विजातीय रूपोंके चरित्रोंसे मिटाया. स्वच्छन्द पदका तात्पर्य है कि भगवान्‌ने भक्तोंके कर्म बन्धन अपने प्रमेय बलसे जोड़े अथवा भक्तोंकी इच्छासे यों विविध अवतार ले विविध कर्म कर भक्तोंके कर्म बन्धनोंका निवारण किया।।१।।

द्रुमिल उवाच

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्तान् अनुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथञ्चित् कालेन नैवाखिलसत्त्वधाम्नः।। २।।

श्लोकार्थः द्रुमिल योगेश्वर उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि, जो मनुष्य सर्व प्राणी मात्रके अन्तर्यामी अनन्त भगवान्के अनन्त गुणोंकी गणना करना चाहता है, वह बाल बुद्धि है, कदाचित् किसी प्रकार समय लगाकर पृथ्वीके रजकणोंको गिना भी जाए किन्तु प्रभु जो सर्वथा अनन्त हैं, उनके असीम गुणोंकी गणना हो नहीं सकती।।२।।

व्याख्यार्थः अलौकिक नामवाले(द्रुमिल) योगेश्वर उत्तर देते हुए कहते हैं कि भगवान्के सर्वग्रण कहने अशक्य हैं.

गुणोंकी गणनामें समय बहुत लगेगा, इसलिए ये नहीं कहते हैं, किन्तु दूसरे कहेंगे, अर्थात् यदि ये न बताऐंगे तो हम दूसरोंसे पूछ लेंगे. ऐसा भ्रम राजाके मनमें न हो, तदर्थ इस श्लोकमें उस भ्रमके निवारणार्थ स्पष्टीकरण कर देते हैं, कि प्रभु सीमा रहित हैं, अर्थात् देश वा कालसे वह परिच्छिन्न नहीं है, गणनारहित ब्रह्माण्डों एवं गणनारहित ब्रह्मकल्पोंमें, एक ग्राममें, एक दिवसमें, प्रभुके किये हुए एक कर्मकी भी गणना की जावे तो कोटि जन्म पूर्ण हो जाव तो भी गणना नहीं हो सकती है. किञ्च गुण तो ज्ञान और कृतिके भेदका प्रकाश करनेवाले हैं, जैसे, वेदादि विद्या, शिल्पादि विद्या इनमेंसे एक भी विद्यासे यदि एक कार्य किया जावे तो, भी उस कार्यकी अनन्तता होती है, अर्थात् उसका अन्त ही नहीं आता है. कर्मोंकी वार्ता उन कर्मोंके कारण भूत गुणोंकी गणना अशक्य है तो होने दो केवल इतना ही नहीं, किन्तु अनन्त शब्द सङ्ख्याके परिच्छेद(सीमा)का भी निवारण करते हैं. गुणोंके कर्मत्वसे गुणोंकी ही गणना करनी चाहिए, न कि अपनी उपयुक्ततातकेलिए अतः जिस वस्तुके गुण कर्मादिकी असीमताके कारण अनुसंधान भी न हो सके, उसका वर्णन करनकेलिए उद्यत होना बाल बुद्धि है.

जिसके गुण बहुत होते हुए भी बुद्धिकी सङ्ख्यामें आ जावे तो वे अन्तवाले हैं, जो गिनतीमें न आवे वह अनन्तता है. अतः इतना ही है इसके अभावसे, यों कहना कि ज्ञान नहीं है, वह वचन(कहना) दूरसे ही खण्डित हो गया. यदि कहो कि श्रेणी एवं कर्मोंके गिननेकी वा कहनेकी शक्ति नहीं है, इसलिए यों कहते हो तो, इस शंकाका दृष्टान्त देकर निराकरण करते हैं,

सूक्ष्मकणोंको ही 'रज' कहा जाता है, वे शत(सौ परमाणु परिमित होते हैं, यों प्रसिद्ध है. उनकी कोटि गुञ्जामें होती है, उससे पचास कोटिरूप गुञ्जामें पुरुष भार कहा जाता है. इस प्रकार जैसे तैसे मन संतोषार्थ समझ लें कि गिनती हो गई. आप यों क्यों कहते हो कि, जब भगवान्के अवतार गिने हुए हैं और उनके गुण(कर्म) भी गिने हुए हैं, तब इस पर कहते हैं कि 'सर्वसत्त्वान्तर्यामिणः' सकल प्राणियोंके अन्तर्यामी हैं, 'तृतीयं सर्वभूतस्थं' 'एकस्तृतीयः पुरुषावतारः' इत्यादि प्रमाणोंसे प्रत्येक जीवको गुण कर्मकी प्रेरणा करनेसे गुणोंकी अनन्तता है जिससे गणना होनी असम्भव है।।२।।

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानम् अवप नारायण आदिदेवः।। ३।।

श्लोकार्थः भगवान्ने प्रथम अपने निर्मित पञ्चभूतोंसे विराट् रूप पुर(देह)का निर्माण कर लिया, अनन्तर जब उसमें अपने आनन्दांशसे प्रवेश किया तब आदि देव नारायण 'पुरुष' नामवाले हुए।।३।।

व्याख्यार्थः अवतार अनन्त हैं यों कहा जाता है, तो भी त्रिकालमें हुए अवतारोंको कहते हुए प्रथम सर्व अवतारोंका बीजरूप पुरुषावतार 'भूतैः' श्लोकसे कहते हैं, [१]''यदा स्वांशेन विष्टस्तदा पुरुषाभिधानमवापेति सम्बन्धः'' 'स्वांशः' पदका अर्थ है 'आनन्दांश' वेदमें सृष्टि उत्पत्तिका कारण भगवान् ही कहा गया है, अतः पञ्च महाभूतों को भगवान् ही अपनेमेंसे उत्पन्न करते हैं, जैसे श्रुति भगवती कहती है कि ''एतस्माज्जायते प्राणः'' यहां जो सिद्धान्त कहा गया है वह साङ्ख्य मतानुसार नहीं है किन्तु श्रुत्यनुसार है, जिसमें हेतु है 'स्वांशेन विष्टः' अपने आनन्दांशसे विराट् देह प्रविष्ट हुए इस कल्पमें जो सृष्टि रची गयी है वह अपने लिए ही भगवान्ने रमणार्थ रची है, यों जाना जाता है, ''पुरं पुरुष आविशत्'' श्रुतिके अनुसार पुरमें प्रवेश करनेसे 'पुरुषत्व'को प्राप्त हुए, पुरुष पदमें 'उष्' धातु प्रवेश अर्थमें है, इत्यादि व्याकरण नियमानुसार वेद जाननेवाले 'पुरुष' शब्दका भावार्थ बताते हैं. यह सृष्टि(इस कल्पमें की हुई सृष्टि) साधारण सृष्टि नहीं है, मर्यादा भक्तिमार्गमें नारायण, जो मूलभूत हैं वह जलमें निवास करनेसे मूलभूत नहीं, किन्तु वह स्वयं आदि देव हैं आदि कारण भूत होते हुए भी देवमार्गके प्रवर्त्तक हैं, 'अभिधानं अवाप' नारायण संज्ञा धारणकी यों कहनेसे यह भाव प्रकट होता है कि, कदाचित् 'पुरुष'ने अवतार भी लिया है।।३।।

१. जब विराट् देहमें अपने आनन्दांशसे प्रविष्ट हुए तब 'पुरुष' नामवाले कहलाए.

यत् काय एष भुवनत्रयसनिवेशो यस्येन्द्रियैस्तनुभृताम् उभयेन्द्रियाणि।
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलमोज ईहा सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्ता।।४।

श्लोकार्थ: भगवान्के जिस विराट् देहमें तीनों भुवनोंका सन्निवेश हुआ है, जिस विराट्की इन्द्रियोंसे जीवोंके दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंको(ज्ञान और कर्मेन्द्रियोंको) कार्य करनेकी शक्ति प्राप्त होती है, जिस भगवान्के ज्ञान द्वारा ही जीवोंको स्वानुभव प्राप्त होता है जिस भगवान्के प्राणोंद्वारा जीवोंको बल, ओज और चेष्टा प्राप्त होती है वे ही भगवान् सत्त्वादि गुणोंसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हैं इतना ही नहीं किन्तु जगत्के आदिकर्त्ता भी वे ही भगवान् हैं।।४।।

व्याख्यार्थ: इस पुरुषरूप भगवान्के चरित्र कहते हैं कि, वह पुरुष ही मुख्य पालनशक्ति है, अतः शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राणोंसे सबका पालन करते हैं और यह ही सर्व अवतारोंका बीज है.

जिसकी कायामें तीनों भुवनोंका सन्निवेश हुआ है अर्थात् तीनों लोकोंको भी अपने अंगमें पुत्रकी तरह स्थापित करते हैं, जिस भगवान्की इन्द्रियां हमारे(जीवोंके) इन्द्रियोंका देवता है, जिनसे ही जीवोंकी इन्द्रियोंने ज्ञान एवं क्रियाकी शक्ति प्राप्त की है, उपाधिमें प्रविष्ट आधिदैविकका ही आध्यात्मिकत्व है. इस प्रकार गोलक(इन्द्रियोंके रहनेका स्थान)का विनियोग है. इन्द्रियोंका तो विषयत्व है, दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे माता बालकको अपने हाथसे दूध पिलाकर अन्य विषयमें लगाती है, वैसे जीवोंकी इन्द्रियोंको भी पुरुष(मुख्य पालकशक्ति) अपनी इन्द्रियों द्वारा विषयोंमें प्रवेश कराते हैं.

अन्तःकरणमें विशेषता बताते हैं, हम जीवोंको जो ज्ञान होता है वह स्वतः सहज होता है क्योंकि ज्ञान नित्य एवं स्वतः सिद्ध ही है, अतः पुरुषका स्वतः सिद्ध नित्यज्ञान ही जीवको अपने अनुभवमें हेतु हो जाता है, इन्द्रियपनमें तो पूर्वोक्त ही विनियोग है, जैसे अन्यत्र ज्ञानरूप आत्मा ग्रहण करनेमें असमर्थ होता है तो अन्तःकरण प्रतिबिंबित ही ग्रहण कर लेता है, वह सिद्धान्त यहां नहीं है, यहां तो स्वतः सिद्ध ज्ञानसे ही सर्वको ज्ञान हो जाता है.

प्राणकार्य कहते हैं 'श्वसनतः' प्राण द्वारा ही शरीर और इन्द्रियोंको शक्ति प्राप्त होती है, साधारणकार्य आसन्यकी चेष्टा है इस चेष्टासे क्षुधा और प्यास ली

गई है.

सत्त्वादिगुणोंसे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हैं. इस वर्णनसे यों न समझना चाहिए कि 'पुरुष' इतना ही है किन्तु आदिकर्त्ता भी यही पुरुष है।।४।।

आभासार्थः ब्रह्मा, विष्णु, और महादेव भी ऐसे ही हैं या नहीं? इस शंकाको मिटानकेलिए 'आदावभूच्छतधृती' श्लोकमें कहते हैं कि वे इस पुरुषके अवतार हैं:

आदावभूच्छतधृती रजसास्य सर्गे विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः।
रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु।।५।।

श्लोकार्थः प्रथम जगत्की उत्पत्तिकेलिए, रजोगुण धारण करनेसे ब्रह्मा हुए फिर वह ही सतोगुण धारण करनेसे धर्म तथा ब्राह्मणोंके रक्षक यज्ञपति विष्णुरूप बने, वह ही प्रलयार्थ तमोगुण धारण कर रुद्र बने, इसी तरह निरन्तर उत्पत्ति, स्थिति तथा लय होते रहते हैं।।५।।

व्याख्यार्थः 'अस्य' सामने देखनेमें आ रहे पदार्थोंको 'विसर्ग' कहा है, इस 'विसर्ग'की उत्पत्ति आदि करनकेलिए आदिमें 'पुरुष'ने रजोगुण धारण करके ब्रह्मारूपसे अवतार लिया, यह अवतार कमलसे प्रकट हुआ शतपत्र धारण कर्ता कमल पर था जिससे रजोगुण सूचित किया है.

वैसे ही सतोगुण धारण कर 'विष्णु'रूपसे अवतार लिया, जिस स्वरूपके द्वारा लौकिक, वैदिककी रक्षा की, विष्णु यज्ञपति होनेसे लोकमें पालनका कार्य करते हैं, वैदिकमें निर्वाहक ब्राह्मण हैं उन ब्राह्मणोंका काल अभावसे संसारके चक्करमें गिरना न हो जावे, और धर्मको कालका ग्रास बनना न पड़े अतः इनसे बचानकेलिए विष्णु अवतारसेतु(पुल) है, अर्थात् संसारमें न गिरकर सुखसे पार पहुंचा दे वैसे महादेव अवतार भी तमोगुण द्वारा प्रलय कार्य कर्त्ता है.

वह पुरुष तीन प्रकारके होते हुए भी वह ही आद्य है, न कि कोई अन्य है.

नित्य उत्पत्ति और प्रलयके पक्षसे सर्वदा इसका कार्य कहते हैं, कि जैसे वर्षामें स्वतः अनेक जीवोंकी उत्पत्ति तथा लय होता रहता है वैसे ही इस सृष्टिका भी होता रहता है।।५।।

धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां नारायणो नरऋषिप्रवरः प्रशान्तः।
नैष्कर्म्यलक्षणम् उवाच चचार योगं योऽद्यापि चास्त ऋषिवर्यनिषेविताङ्घ्रिः।६।

श्लोकार्थः साक्षात् धर्मस्वरूप भगवान् नरनारायण दक्षकी कन्या मूर्तिसे

प्रकट हुए, जो नररूपसे श्रेष्ठ उत्तम ऋषि हैं और विशेष शांत स्वरूप है एवं जिसने वह योग बताया है जिससे नैष्कर्म्यका ज्ञान हो तथा योगका भी आचरण किया है जिनके चरणकी सेवा आज तक भी नारदादि श्रेष्ठ ऋषियों द्वारा हो रही है।।६।।

व्याख्यार्थ: इस प्रकार भगवान्‌के चरित्र साधारण रीतिसे कहकर अब जो अवतार विशेषतः अनुग्रहार्थ है किन्तु साधारणतः सर्व रक्षक है, उस नरनारायण भगवान्‌के पुष्टि अवतारोंका वर्णन करते हैं.

धर्मको द्वैविधा जतानकेलिए, प्रकृति तथा विकृति भेदसे धर्म दो प्रकारका है, अतः स्थितिके हेतु भूत नरनारायणके अवतारको कहते हैं, कारण कि इस पुष्टिमार्ग(वा अवतारों)में साधन और फल दोनोंमेंसे फल बलिष्ठ माना जाता है, यह नरनारायणावतार पुष्टि अवतार है, अतः धर्मकी द्विविध स्थितिका हेतु आप ही हैं.

सहज प्रवृत्ति आसुरी होती है और बहुत होती है, जिससे जगत्‌में धर्मकी उत्पत्ति(व प्रवृत्ति न होवे तो, उस दोषको मिटानकेलिए 'भगवान्'को ही 'तपस्या' करनी चाहिए, वह तपस्या दोषरहित होनी चाहिए, प्रायः तपस्या करते हुए क्रोध उत्पन्न होता है जो बाधक दोष है, और विशेष तप करनेसे काम(कामनाओं)की उत्पत्ति होती है जिससे तपमें विघ्न पड़ता है, अतः ये दोष जैसे न हो उसी तरह तपस्या करनी चाहिए, इस प्रकार कहना एक प्रकारका भ्रम है, क्योंकि यह अवतार शुद्‌ध सत्वगुणावतार होनेसे इसमें अन्तःकरण भी वैसा ही होनेसे यहां इन दोषोंकी संभावना ही नहीं है. वैसा ही यह शुद्‌ध चरित्र आगे दश श्लोकोंसे कहा जाएगा. भगवान् नरनारायण जगत्‌की स्थिति सुचारु रहे आसुरी प्रवृत्तिका विशेष प्राबल्य न होवे तदर्थ अद्यापि बद्रीकाश्रममें तपस्या कर रहे हैं.

प्रथम पुष्टि अवतारका स्वार्थ चरित्र कहते हैं, कि यह शुद्‌ध सत्त्वावतार निर्दोष है, आपके पिता धर्मसात्त्विक तथा माता मूर्ति भी सात्त्विक होनेसे शुद्‌ध है, नाम एवं अधिष्ठान भी शुद्‌ध है, 'नारायण' नामसे ब्रह्मत्व है, मन्त्रद्रष्टा होनेसे 'नर' नामसे ऋषित्व है नर है ऋषि जिसको वैसा नारायण, लक्ष्मीपति नारायणका कर्म कर्त्तापन नरके कारण है, 'नर' यह प्रथम पुरुष है और वह लोक तथा मर्यादामें श्रेष्ठ है और विशेष शांत स्वरूप है, यह रूप केवल पुष्टिस्थ नहीं है किन्तु ज्ञान और क्रिया दोनोंसे युक्त है अर्थात् इनमें ज्ञान और क्रियाशक्ति भी प्रकट है.

ज्ञानशक्तिके कार्यका वर्णन करते हैं, पञ्चरात्रमें कहे हुए भगवत्सेवारूप

कर्म, लोकोपकारकेलिए कहा है और अपनी बहुत समय तक स्थिति रहे, तदर्थ योगाभ्यास भी कर रहे हैं, अतः ही पुष्टि अवतारोमें यह(नर नारायण) भी है, प्रथमका फल कहते हैं, ऋषिवर्य हैं, क्योंकि पञ्चरात्रमें कहे हुए मन्त्रोंके दृष्टा हैं, उनकेद्वारा चरणोंकी सेवा हो रही है, स्थितिकी विपरीतता प्रयोजनके कारण है।।६।।

इन्द्रो विशङ्क्य मम धाम जिघृक्षतीति कामं न्ययुक्त सगणं स बदर्युपाख्यम्।
गत्वाप्सरोगणवसन्त–सुमन्दवातैः स्त्रीप्रेक्षणेषुभिरविध्यदतन्महिज्ञः।।७।।

श्लोकार्थ: नर–नारायण भगवान्की तपस्या देख इन्द्रके मनमें शंका हुई कि इस तपस्यासे नरनारायण मेरा धाम(स्वर्ग) लेना चाहते हैं इसलिए इस तपस्याको भंग करनकेलिए इन्द्रने गणसहित(अप्सरादि गण) कामको बद्रीकाश्रम भेजा, अप्सरादि गण सहित कामने वहां आकर मन्द–मन्द, सुगंधित वसंतकी वायु तथा अप्सराओंके कटाक्षोंसे भगवान् नर नारायणके मनको हिलाना चाहा, क्योंकि वह भगवान्की तथा बद्रीकाश्रमकी महिमाको जानता नहीं था।।७।।

व्याख्यार्थ: दश श्लोकोंसे भगवान्का चरित्र कहते हैं, दो श्लोकोंसे काम और क्रोध पर जय, चार श्लोकोंसे स्तुतिसे जय, दो श्लोकोंसे अदेयदान एवं दो श्लोकोंसे भगवच्चरित्रकी अचिन्त्यता कही है.

इन्द्र यज्ञरूप है एवं केवल क्रियाशक्तिका स्वरूप अवतार है किन्तु भोगावेशके कारण अपने स्वरूपको भूल गया है. तपका फल इन्द्रत्व है, मन्वन्तरके बाद ब्रह्मत्व प्राप्ति हो तो भी वह प्रतिष्ठा ही है उसमें भोग नहीं है, नरनारायण जो तपस्या कर रहे हैं वह खास इन्द्र पद लेनकेलिए ही है क्योंकि उससे ही जगत्की रक्षा कर सकते हैं. यदि कहो कि ज्ञान प्राप्तिकेलिए कर रहे हैं तो यह कहना भी अपूर्ण है क्योंकि ज्ञानोपदेष्टाको ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होती है, इस प्रकारका भ्रम इन्द्रको हुआ जिससे उसको निश्चय हुआ कि इनकी तपस्या मेरे धाम लेनकेलिए ही है, इसलिए, अपने धामकी रक्षार्थ नरनारायणकी तपस्यामें विघ्न डालनकेलिए उपाय किया और यह निश्चय किया कि लोकमें काम और क्रोधसे ही तपका नाश होता है, क्रोधसे ही कामकी जय भी होती है, यों विचारकर इन्द्रने कामको उनकी सेना सहित बद्रीकाश्रममें तपो भंगकेलिए भेजा, कामकी सेना अप्सरा गण भी भेजी, क्योंकि कामदेव अग्निकी तरह हृदय स्थित कामको जाग्रत करता है, उसके जाग्रत होने पर उसकी शांतिकेलिए अप्सराओंकी

आवश्यकता होती है. अतः वे भी भेज दी थीं, यदि काम जाग्रत न हुआ तो भी स्वरूप नाश न होगा, जो जाग्रत हुआ तो अशांत होगा, यदि अहंकारसे आध्यात्मिकका क्षोभ होने लगा तो क्रोधादि उत्पन्न होनेसे सर्वनाश होगा.

बद्रीकाश्रम वह स्थान है जहां 'बद्री' अर्थात् जहां प्रभु 'अमृत' अर्थात् परमानन्दका दान कर रहे हैं. उस नामवाले स्थानमें विराजनेवाले तप कर्ता नरनारायण ब्रह्म हैं यह ज्ञान इन्द्रको तब भी न हुआ.

अप्सरा गण विभावादिद्वारा वसंत चलनेवाले मन्द-मन्द वायुसे जीव भावमें जो रस है वह शृंगारादिसे बाहर प्रकट करा सकती हैं, किञ्च रसरूप भगवान् तो केवल भक्तिसे ही स्वयं बाहर प्रकट होते हैं, इन लौकिक व्यापारोंसे नहीं, अतः अप्सराओंने वसंत वायु आदिने जो कुछ किया वह यों निष्फल गया ज्यों पत्थर पर फेंके हुए बाण निष्फल जाते हैं।।७।।

विज्ञाय शक्रकृतमक्रममादिदेवः प्राह प्रहस्य गतविस्मय एजमानान्।
मो भैष्ट भो मदन मारुत देववध्वो गृह्णीत नो बलिमशून्यमिमं कुरुध्वम्।। ८।।

श्लोकार्थः इन्द्रने अज्ञताके कारण इस प्रकार अपनी मर्यादाका उल्लंघन किया है, भगवान् यों जानकर खूब हंसे और डरी हुई इन्द्रकी भेजी कामसेनाको कहने लगे कि, हे मदन! हे मारुत! हे देववधुओं! आप डरो मत, अब इस हमारे निवृत्तिमार्गवाले आश्रममें सुख पूर्वक निवासकर हमारा आतिथ्य स्वीकार कीजिये आप हमारे अतिथि हो अतः आश्रमका त्यागकर इसको शून्य न कर यहां ही विराजिए।।८।।

व्याख्यार्थः इन्द्रकी भेजी हुई कामसेनाने जो अनुचित कार्य कर आप पर आक्रमण किया तो ईश्वर होनेसे उन्हें दण्ड देना चाहिए, इस पर कहते हैं कि, जहां बाणोंका कार्य नहीं है वहां बाण फेंकना उचित नहीं है, अतः यहां कामसेनाको दण्ड देना उचित नहीं है, क्योंकि उसने तो स्वामीकी आज्ञाका पालनकर सेवकधर्म पाला है इसमें किसी प्रकार अनौचित्य नहीं है, अतः वह दण्डके योग्य नहीं है भृत्य(नौकर) यदि अपराध करे तो भी दण्ड भृत्यको नहीं होता है बल्कि स्वामीको होता है, यहां तो कामसेनाद्वारा कराये हुए अतिक्रममें इन्द्रका भी अपराध है, यों भगवान् नहीं मानते, क्योंकि इन्द्र अज्ञानी है उसने नारदादिद्वारा यह नहीं जान पाया है कि यह तपस्या जगत्के हितार्थकी जा रही है अतः अज्ञानसे भ्रमित होकर समझ बैठा है कि मेरे धामको लेनकेलिए तप हो रहा है, इसलिए वह

इन्द्र भी दोषी नहीं है, यदि यह तप जिसकेलिए हो रहा है वह जानकर भी कामसेनाद्वारा आक्रमण करता तो दोषी माना जाता, आप भगवान् हैं अतः इन्द्रका अपराध भी नहीं मानते एवं उसको दण्ड देना अनुचित समझते हैं, आप आदिदेव हैं अर्थात् सकल देवोंके आदि हैं यानि सब देव आपसे ही प्रकट हुए हैं, इन्द्रको भी यज्ञरूपसे अपने अंशसे आपने ही स्थापित किया है.

भगवान् यदि इस समय मौनधारण कर बैठते तो भयके कारण कामसेनाकी मृत्यु हो जाती, जिससे दूसरा अपराध बन जाता, इसलिए प्रभु विशेष हंसते हुए कहने लगे कि आपने जो यहां कर्म किया है वह तो मैंने ही आपको सिखाया है, जिसकी आपने यहां परीक्षा दी है, आपने यह कार्य गर्वसे भी नहीं किया है, और वैसे क्रोधवत् अपनी महत्ताका ज्ञान भी हो सकता है, एवं नारायण और इन्द्रके भयसे कम्पन होता है अर्थात् कांपते ही इन दोनों भयोंके निवृत्त्यर्थ डरती हुईसेनाको कहने लगे कि, आप डरिए नहीं, कारण कि, अपना आपसमें स्वामीसेवक भाव है, डरनेसे वह भाव मिट जावेगा, इस कारण भगवान् उनको इस प्रकार कहते हैं जैसे कि समानतावालोंसे बोला जाता है भो मदन!(कामदेव) है मारुत! हे देववधुओं! आप किसी प्रकार मत डरिए, आपको आपका स्वामी इन्द्र दण्ड नहीं देगा और मैं भी दण्ड नहीं दूंगा, आप निश्चिंत रहिए, किसी भी कार्यके वास्ते जो घरमें आते हैं वे 'अतिथि' माने जाते हैं, निवृत्ति मार्गमें तो चोर एवं हत्यारे भी घरमें आवे तो उनको भी अतिथि मान उनकी अतिथिवत्सेवाकी जाती है, यों अतिथिसेवा करनेसे ही जन्मकी सफलता होती है, जैसे कहा है कि 'एतावज्जन्म साफल्यं' भ्रमसे(अज्ञानसे) कोई कार्य सिद्ध नहीं होता है तो भी आश्रमवासियोंका धर्म है अतिथिकीसेवा करनी, अतः हम आश्रमवासियोंका आतिथ्य स्वीकार कीजिये, इससे क्या होगा? इसका उत्तर देते हैं कि इससे आश्रम शून्य न होगा यद्यपि आप जिस मनोरथसे आए हो वह सिद्ध न हुआ तो भी कोई हानि नहीं क्योंकि यहां रहनेसे विशेष लाभ होगा कि परोपकारकी सिद्धि होगी, जो निर्दोष महत्पुरुष हैं उनका तो ''परोपकार करना ही'' रीति है. जिससे उनके घर सर्व दैव अतिथि आते रहते हैं जैसा कि कहा है 'गृहेषु येष्वतिथयः' ।।८।।

इत्थं वदत्यभयदे नरदेव देवाः सव्रीडनम्रशिरसः सघृणं तमूचुः।
नैतद् विभो त्वयि परेऽविकृते विचित्रं स्वारामधीरनिकरानतपादपद्मे।। ९।।

श्लोकार्थः हे नर देव! अभय देनेवाले भगवान्के इस प्रकार कहने पर,

लज्जासे उनके मस्तक नीचे हो गए, यों नम्र हुए कामादि, कृपायुक्त, उन प्रभुको कहने लगे आत्मामें ही रमण करनेवाले, जितेन्द्रिय धीर सत्पुरुषोंसे पूजित हैं चरणकमल जिनके ऐसे अविकारी परब्रह्म आपमें यों दया करना किसी प्रकार विचित्र नहीं है।।९।।

व्याख्यार्थ: (इस प्रकार दो श्लोकोंसे कामादि दोषके अभावका वर्णन किया और माहात्म्य कहा) अब चार श्लोकोंमेंसे तीन(श्लोकों)से पुरुष बुद्धिसे ग्राह्य जितेन्द्रियत्वादिका निराकरण करते हैं.

भगवान् और भगवदियोंके असाधारण धर्मोंसे वह समझाते हैं जिसमें प्रथम प्रसंग सहित, भगवान्के धर्मोंको कहते हैं, अभयदान ही सब दानोंमें उत्तम कहा गया है और पूजा भी अधिक है, जिसका भी वर्णन किया हुआ है इस विषयका वर्णन 'इत्थं वदत्यभयदे' श्लोकोमें करते हैं, साधारण जीवोंका पूजन(आदर सत्कारादि) महापुरुषोंकी केवल वाणीसे थोड़े शब्द उच्चारणसे ही हो जाता है, उन शब्दोंसे उन(महापुरुषों)में दैन्यके दर्शन होते हैं. अन्नदान, विद्यादान, सुवर्णदान, भूमिदान, वस्त्रदानादिकी तुलनामें भयभीत हुए जीवोंको भयसे छुड़ानेका दान ही सबसे उत्तमदान है. काम, आदिको आश्रममें अतिथी सत्कार स्वीकार करनेकेलिए कहा गया जिससे समझा जाता है कि उनको आसन आदि भी मिले हैं. श्लोकमें 'नरदेव! सम्बोधन किया है, जिससे सूचित होता है कि आप(राजा)को भी अतिथी सत्कार करना तथा शरणागतोंको अभय दान देना चाहिए. यह लौकिक उपदेश(राजाको) है. कामादि भी स्वरूपसे महान् है अतः उनको 'देवाः' कहा गया है परन्तु उनने बड़े होते हुए भी विरुद्ध कार्य किया, फिर भी नरनारायणने उनका आदर किया जिससे लज्जा आनेके कारण उनके शिर झुक गए. वेश्यादि देखनेसे नरनारायणको कामदेवके प्रति धृणा हुई, उसके होते हुए भी अथवा कामादिका प्रयत्न निष्फल होनेसे उनको दीनता पूर्ण देखनेसे नरनारायण का यह कार्य कृपायुक्त है. श्लोकमें 'सघृण' शब्द यदि क्रिया विशेष माना जाए तो फिर अर्थ ऐसे होगा कि नरनारायणने नाश किये हुए अपने भक्तोंका स्मरण कर अब इन कामादिको इस तरह विनय पूर्वक कह रहे हैं आपके नियामक होनेसे पितामहकी तरह सबकी रक्षा करते हैं. कामादि द्वारा की गई विरुद्ध क्रियासे भी आपको दुःख न हुवा, गुणोंका कार्य विकारवाला होता है जो आपमें नहीं है तथा जिनने ज्ञान एवं इन्द्रियोंको जीत लिया है ऐसे प्रसिद्ध पुरुषों द्वारा आप प्रशंसित हैं

तो फिर आपमें ज्ञान एवं इन्द्रियों पर विजय है तो इस विषयमें तो कहना ही क्या? इस पर कहते हैं कि, आत्मामें ही रमण करनेवाले जितेन्द्रिय धीर सत्पुरुष जिनके चरण कमल पूज रहे हैं वैसे आप हैं।।९।।

त्वांसेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः स्वौको विलङ्घ्य परमं व्रजतां पदं ते।
नान्यस्य बर्हिषि बलिं ददतः स्वभागान् धत्ते पदं त्वमविता यदि विनमूर्ध्नि।।१०।।

श्लोकार्थः हम जीवोंका अपराध करना सहज धर्म ही हो गया है, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, यों होते हुए भी आप उनपर दया एवं अनुग्रह ही करते हैं, देवलोक स्वर्गका उल्लंघन कर आपके परम पद वैकुण्ठको जाननेवाले आपकेसेवकोंके मार्गमें देव अनेक विघ्न करते हैं जिसका कारण बताते हैं कि भक्तजन वैकुण्ठ प्राप्त करनेकी इच्छासे आपका ही जब भजन करने लगते हैं तब देव समझते हैं कि अब ये भक्त हमको बलि न देंगे अतः विघ्न करते हैं जो आपकी भक्ति नहीं करते हैं उनके कार्यमें विघ्न नहीं डालते हैं क्योंकि वे देवोंको बलि देते हैं, किञ्च जो भक्त अनन्य भावसे आपका भोजन करते हैं उनके रक्षक आप हो अतः वे भक्त निश्चिंत होकर विघ्नोंके सिर पर पैर धरकर आपके वैकुण्ठमें सुखपूर्वक पहुंच जाते हैं।।१०।।

व्याख्यार्थः आप सर्व समर्थ षड्गुण संयुक्त प्रभु जो कुछ करते हैं वह उचित ही है, जिसमेंसेवकोंकी दुर्दशा हो वह उचित कैसे? इस शंकाका निवारण करते हैं, प्रवाही और मर्यादी भक्तों पर जब आप अनुग्रह करते हो तब वे आपके अनन्य भक्त बनकर आपका ही भजन करते हैं उसको सहन न कर प्रवाही तथा मर्यादी देव उनके कार्य(सेवादि)में विघ्न डालते हैं, किन्तु वे उन विघ्नोंकी परवाह नहीं करते हैं, कारण कि वे समझते हैं कि हमारे रक्षक देवाधिदेवोंके अधिपति परब्रह्म स्वयं है, जिससे वे विघ्नोंके सिर पर पैर धरकर वैकुण्ठमें सुखसे चले जाते हैं, उनको भगवच्चरित्रके गुणगान तथासेवाका बल है.

वास्तवमें 'यथातरोर्मूल निषेचनेन' इस श्लोकानुसार, जैसे पेड़की मूलमें पानी देनेसे वृक्षकी शाखा पत्ते आदि को पानी प्राप्त हो जाता है, वैसे ही भगवान् कृष्ण सर्व देवोंकी जड़ हैं उनके भजनसे सर्व देवोंका भजन हो जाता है उनकी तृप्तिसे सब देव तृप्त हो जाते हैं, अतः देव भगवद्भक्तोंकीसेवामें विघ्न डालते ही नहीं है, यदि कदाचित् प्रभुकी विशेष लीलाके कारण विघ्न डालें, तो भी भक्तोंके आगे वे विघ्न अकिंचित्कर है अर्थात् गणनामें ही नहीं है।।१०।।

क्षतृट्त्रिकालगुणमारुतजैह्व्यशैश्न्यान् अस्मानपारजलधीनतितीर्य केचित्।
क्रोधस्य यान्ति विफलस्य वशं पदे गोः

मज्जन्ति दुश्चरतपश्च वृथोत्सृजन्ति।।११।।

श्लोकार्थः विघ्न अनेक हैं, उनमेंसे क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्णता (भुख प्यास सर्दी गर्मी) वर्षा, वायु, रसना इन्द्रियका [१]भोग तथा स्त्री पुरुष द्वारा परस्पर रसभोग इस प्रकारके प्रकृतिके आठ मुख्य विघ्नरूप(देव) हैं, अतः इस प्रकार काम समुद्रको कोई विरला पार कर सकता है, उसमें भी तपस्वी तो छोटे गढ्ढेमें ही डूब जाता है, वह गढ्ढा है 'क्रोध' जो क्रोधके वश हुआ उसकी तपस्या बार-बार अहंकारसे शाप देनेके कारण नष्ट(वृथा) हो जाती है, काम तो व्यवहारमें कुछ सुखाभास देता है किन्तु क्रोध तो सर्वथा कष्टप्रद एवं हानिकर होता है।।११।।

१. जीभका विविध रसोंका भोग, प्रकृतिके ८ भोग हैं, भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, वर्षा, हवा, जीभके स्वाद, काम उपभोग.

व्याख्यार्थः इस विषयको दृढ़ करनकेलिए विध्नोंका माहात्म्य कहते हैं, सहस्त्रों विघ्न हैं उनमेंसे ६ मुख्य हैं उनमें भी उत्तरोत्तर अर्थात् एकसे दूसरा बलवान है.

जिसका वर्णन 'क्षुत्तृट्' श्लोकमें करते हैं, ''समुद्र(?) इव हि काम'' श्रुति कहती है कि काम(चाहना) समुद्रके समान है अर्थात् जैसे समुद्रके पार जाना कठिन है वैसे ही कामको तैर कर पार जाना अशक्य है, क्योंकि उस कामकी आठ प्रकृतियां हैं एवं उनके प्रतिकारके साधन भी केवल दुस्तर नहीं किन्तु डुबोनेवाले हैं, उनको वश करनेका धर्म(साधन) पृथक् है, जिन लोगोंने इनको वशमें नहीं किया है वे कैसे पार पहुचेंगे? बहुत समय तक उनका सहन कर लेनेसे वैसे बाधा नहीं करते हैं, यों वे सहन करनेवाले दुर्लभ हैं. काम और क्रोधकी तुलना करते हुए कहते हैं कि जो मनुष्य काम(विषय)में मग्न हैं उनको व्यवहारमें लौकिक इन्द्रियोंका सुख तो मिलता है, किन्तु क्रोध करनेवालेको तो वह भी नहीं प्राप्त होता है, शत्रुके मरनेसे दुःखका अभाव होता है किन्तु खास अपनेको उससे कोई विशेष आनन्द नहीं मिलता है क्योंकि क्रोध दुःखात्मक है, सदैव दुःख देनेवाला है, वह भी अविवेकी तथा अभिमानीको विशेष दुःखदाता है.

क्रोधी मनुष्य सहन कर सकेगा यह शंका ही नहीं उठती है, अर्थात्

क्रोधीमें सहन करनेकी शक्ति ही नहीं होती है, कारण कि क्रोधमें वह शक्ति है जो वह क्रोधीको अपने वशमें कर लेता है क्रोध अति तुच्छ है, अतः प्रवाह वा मर्यादामें भी क्रोधी स्थिर नहीं रह सकता है, क्योंकि क्रोधसे विवेक चला जाता है, जिनका कोई कारण भी नहीं होता है, क्रोधी लोग छोटे गढ्ढेमें ही डूब जाते हैं, जिससे परस्पर विरुद्ध वाक्यके भावार्थ न समझनेसे उसमें ही गोता खाने लगते हैं, इससे यह सिद्ध हुआ कि काम कायिक है और क्रोध वाचनिक है, दोनोंका तारतम्य बतानकेलिए इकट्ठे वचन कहे हैं काममें जो मग्न हैं उनको मर्यादा फलका अनुभव होता है, क्रोधमें वह भी नहीं होता है, वे क्रोधी अपनी दुस्तर तपस्या भारवाही(बोझ उठानेवाले) की तरह वृथा गवांते हैं, वे क्रोधी तपसे न अपना हित करते हैं और न दूसरों का, अतः तपकी व्यर्थता हो जाती है।।११।।

आभासार्थ: अब तक कामादि देवोंको भगवान्के अचिन्त्यैश्वर्यका ज्ञान न था, उस अज्ञानको मिटानकेलिए विभु प्रभुने अति सौन्दर्यवाली अद्भुत आभूषणादिसे युक्त विविध स्त्रियां प्रकट कर दिखा दी, जिसका आशय आचार्यश्री कारिकामें दिखाते हैं.

स्त्रीभिः कामजयो यस्य क्रोधस्याप्यर्चनेन हि।
उत्कर्षाधायकत्वेन ह्युभयोरित्यचिन्त्यता।।कारि.१।।

कारिकार्थ: भगवान् श्रीनरनारायणने स्त्रियोंके(देव, स्त्री, अप्सराओंके) अनेक प्रकारके नृत्य हास्य और कटाक्षादिसे मोहित न हुए अर्थात् कामकी सेनाका भ्रम निष्फल कर काम पर विजय प्राप्त कर ली, इसी प्रकार कामादिके इस अनुचित कार्य करने पर भी क्रोध न कर उनका पूजन ही किया, जिससे अपना उत्कर्ष सिद्ध किया, उन दोनों कार्योंकी महत्ता किसीके भी समझमें आना कठिन है.

इति प्रगृणतां तेषां स्त्रियोऽत्यद्भुतदर्शनाः।
दर्शयामास शुश्रूषाम् अर्चने कुर्वतीर्विभुः।।१२।।

श्लोकार्थ: इस प्रकार देवता स्तुति कर ही रहे थे तो इतनेमें सर्वसमर्थ प्रभुने अपने अलौकिक सामर्थ्यसे उन स्त्रियोंसे भी अधिक विशेष आभूषणादिसे सुसज्जित एवं अतिशय लावण्यवती(सुंदर) अद्भुत स्त्रियां प्रकट कर दिखाई, उन्होंने प्रकट होते ही भगवान्की प्रार्थना की, कि हे प्रभो! आज्ञा करो, और आज्ञा पाते ही कामादिकीसेवामें लग गई।।१२।।

व्याख्यार्थ: नरनारायणने अपने प्रभावसे जिन स्त्रियोंको प्रकट किया, वे स्त्रियां भी इनकी सम्बन्धिनी थी, जो यों न होता तो उर्वशीका दान देना अनुचित दिखता, ये स्त्रियां अत्यन्त अद्भुत थी जिसका कारण कामादि देवोंका विवेक(ज्ञान) आदि भी इन्होंने नष्ट कर दिया है, जिससे वे भी मोहित हो गए, ये स्त्रियां जगतकी मूर्तिमती लक्ष्मीयां हैं यों भास रहा था. अतः देवानुचर ऐसे दिव्य स्त्रियोंका पूजनादि कैसे कर सकते? यह सर्व कार्य यदि भगवान् मौन धारण कर लेते तो भी सिद्ध हो जाते, इस पर कहते हैं कि आप 'विभु' सर्वसमर्थ हैं अतः अपना प्रभाव दिखाकर उनका अहंकार नाश करना आवश्यक था।।१२।।

ते देवानुचरा दृष्ट्वा स्त्रियः श्रीरिव रूपिणीः।
गन्धेन मुमुहुस्तासां रूपौदार्यहतश्रियः।।१३।।

श्लोकार्थ: लक्ष्मीके समान मूर्तिमती सुंदर स्त्रियोंके दर्शनसे एवं उनके दिव्यरूप तथा उदारतासे इन्द्रके अनुचरोंका तेज नष्ट हो गया और उनके मन मोहिनी दिव्य गन्ध मात्रसे मोहको प्राप्त हो गए।।१३।।

व्याख्यार्थ: इनको अदेय दान देना है, क्योंकि ये देवानुचर होनेसे दान लेनेके योग्य हैं. इन्होंने इन्द्रादि देवोंके अन्तःपुरकी स्त्रियां देखी है अतः इन स्त्रियोंके देखनेसे उनको मोह नहीं होना चाहिए, ऐसों को भी, सर्व जगत्के श्रीकी मूर्तिमती ये स्त्रियां थी, अतः इनके केवल श्रीअंगकी गन्धसे ही वे मोहित हो गए जो मोहको प्राप्त हो जाते हैं उनको पूजाका ज्ञान कैसे होगा? जहां गन्ध मात्रसे मोह हो जाता है तो अंग-संगसे उनकी क्या दशा होगी? उन स्त्रियोंके रूप और उदारतासे देवानुचरोंकी श्री(तेज, शोभा, कान्ति) नष्ट हो गई थी.

'श्री' दो प्रकारकी होती है, एक रूप(शोभा) दूसरा धन(उदारता) स्त्रियोंके श्रीरूप कान्तिसे उनका तेज नष्ट हो गया और अपनी उदारतासे उनके धनका भी तेज(गर्व) नष्ट कर दिया उदारता नहीं है तो वह धन भी पत्थरके समान निरर्थक है. रूपकी उदारतासे अन्य जो पासमें हो उनका रूप भी विशेष सुंदर हो जाता है. इसी तरह उन स्त्रियोंके पास होनेसे देवानुचरोंके प्रथमरूपकी कान्तिका नाश हो गया है।।१३।।

तानाह देवदेवेशः प्रणतान् प्रहसन्निव।
आसामेकतमां वृङ्ध्वं सवर्णां स्वर्गभूषणाम्।।१४।।

श्लोकार्थ: इन्द्रके भी ईश श्रीनरनारायण मानों हंस रहे हैं, यों आकृति

कर प्रणत(प्रणाम करते हुए) उन देवोंको कहने लगे कि, इन स्त्रियोंमेंसे अपने वर्ण(देववर्ण) वाली और जो स्वर्गकी आभूषण रूप हो उसको ले लो।।१४।।

व्याख्यार्थ: भगवान् नारायणने उनके हृदयका अभिप्राय जानकर जो वस्तु देनी नहीं चाहिए वह भी दे दी. उनका इस पदार्थमें दृढ अभिनिवेश(इस वस्तुके लेनेकी दृढ़ इच्छा) है यों समझकर जैसे कोई प्रसन्न होकर देने लगे, क्योंकि आप देवोंके देव इन्द्रके भी स्वामी हैं अतः स्वामीको सेवकके मनकी इच्छा पूर्ण करनी चाहिए, उर्वशीसे ही इन्द्रका भोग हो सकता है(परन्तु) अपकारियोंको(तो) भोग योग्य पदार्थ नहीं देने चाहिए? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि अब इनमें वह दोष नहीं रहा है कारण कि अब ये नमन कर दीन बन गए हैं. स्त्रियोंसे मोह प्राप्त होने पर भी उनको देखते नहीं है, इसलिए देखते हुए भी जो डरते हैं वे निर्दोष हैं यों मान हंसने लगे जिससे दोषका उपसंहरण कर लिया, आप और इन्द्रके उपकारार्थ अपने वर्णवाली(देव वर्णवाली) और जो स्वर्गकी शोभा बढ़ावे वैसी एक कोई भी स्त्री आप ले लीजिए ऐसी आज्ञा की।।१४।।

ओमित्यादेशमादाय नत्वा तं सुरबन्दिनः।
उर्वशीम् अप्सरःश्रेष्ठां पुरस्कृत्य दिवं ययुः।।१५।।

श्लोकार्थ: भगवान्की आज्ञाको 'ॐ' कहकर सिर पर चढ़ाया वे देव बद्री भगवान्को प्रणाम कर अप्सराओंने उत्तम उर्वशीको आगेकर स्वर्गको गए।।१५।।

व्याख्यार्थ: विशेष अनुभावकी प्रवृत्ति बतानकेलिए कारण कहते हैं कि उन्होंने भगवदाज्ञाको 'ॐ' कहकर सिर पर चढ़ाया, और प्रणाम करनेसे अपना सेवकत्व स्वीकार किया, जो प्रभुने दिया उसके लेनेमें और कीर्तिके प्रसिद्धिमें हेतु बताते हैं कि, वे 'बन्दो' हैं, उर्वशीमें जो अप्सरात्व है वह इन सबके सुखकेलिए हैं।।१५।।

इन्द्रायानम्य सदसि शृण्वतां त्रिदिवौकसाम्।
ऊचुर्नारायणबलं शक्रस्तत्रास विस्मितः।।१६।।

श्लोकार्थ: उस कामसेनाने इन्द्रको प्रणाम कर श्रीनारायण भगवान्के बलका जोरसे सभामें वर्णन किया, जिसको सर्व देवोंने सुना एवं इन्द्र भी सुनकर आश्चर्यके साथ भयभीत हुआ।।१६।।

व्याख्यार्थ: वे इन्द्रानुचर नारायणका प्रभाव कहने लगे, प्रथम तो उन्होंने

सभामें जोरसे स्पष्ट कहा कि हम पर नारायणने जय पाई, उनके आगे हमारी कुछ न चली. न केवल इतना ही किन्तु अपने प्रभावसे हम सबको वशमें कर लिया, जिससे हमारे स्वामी इन्द्रादिका मान भी भंग कर दिया. ऐसे वे प्रभावशाली हैं, यह सुनकर इन्द्र डर गया, और समझ गया कि वह सुखपूर्वक सब कुछ कर सकेगा, इससे विस्मयमें पड़ गया।।१६।।

आभासार्थ: इस प्रकार देवोंको आश्चर्यमें डालनेवाला नारायण भगवान् का चरित्र कहकर अब अध्याय समाप्ति तक क्रमपूर्वक उपकारानुसार सर्वावतारोंके चरित्र संक्षेपमें कहते हैं:

हंसस्वरूप्यवददच्युत आत्मतत्त्वं दत्तः कुमार ऋषभो भगवान् पिता नः।
विष्णुः शिवाय जगतां कलयावतीर्णः तेनाहृता मधुभिदा श्रुतयो हयास्ये।।१७।।

श्लोकार्थ: जो भगवान् [१]अच्युत हैं, उनने हंसका अवतार धारण किया, एवं दत्तात्रेय सनकादिक तथा हमारे पिता श्रीऋषभदेवके रूपमें अवतार लिया, ये अवतार भगवान् विष्णुने जगत्के कल्याणार्थ ज्ञान शक्तिकी कलाओंको प्रकट कर लिए हैं, उनने ही ज्ञान क्रिया शक्तिकी कलाओंको प्रकट कर हयग्रीव अवतार धारण किया जिससे मधुकैटभ दैत्यका वध कर उससे वेद ले आए।।१७।।

१.अनेक प्रकारके उच्च नीच रूप धारण करते हुए भी जिसमें किसी प्रकारकी क्षति(कमी) न हो.

व्याख्यार्थ: क्रियासे भी ज्ञान प्रधान है, उसमें भी सनकादि प्रथम हैं भगवान् हंसके चरित्रका स्पष्ट वर्णन १३ वें अध्यायमें किया है, एवं अन्य अवतार भी प्रमाण पर्यन्त कहते हैं, भगवान् अच्युत हैं क्योंकि सर्व प्रकारके रूपोमें भी स्वमूल स्वरूपकी च्युति(क्षति या कमी) नहीं होती है, वह पूर्णता ही रहती है, सर्वत्र सर्वरूपोंमें आनन्दकारी ही है अपने आनन्दको ही उस स्वरूपमें दिखाते हैं, इसलिए कहा है कि अच्युत हैं कारण कि वह आत्मतत्व है, यों पूर्वार्धमें सर्वत्र समझ लेना चाहिए.

हंस, दत्तात्रेय, सनत्कुमार और ऋषभ ये ४ ज्ञान कलाके अवतार हैं. तृतीय पादका सर्व अवतारोंमें अनुषंग है, कला दो प्रकारकी है एक क्रियाकला (शक्ति) दूसरी ज्ञान कला, भगवान् जो भी अवतार ग्रहण करते हैं वे सर्व सकल जगत्के कल्याणकेलिए ही है, अवतार तीन प्रकारके हैं १. सहजरूप, जिसका

समागमन होता है, २. शुद्ध सतोगुण शरीरमें आविर्भाव हो जाना, ३. स्वतः प्रकट होनेवाले अवतार.

इनमेंसे 'नारायण' पुरुष शरीरमें प्रकट हुए हैं, इसी प्रकार स्वतः शरीर (शुद्ध सतोगुण)में भी अवतार होते हैं, उनसे अन्य दत्तात्रेय आदि अवतार शरीररूपमें अवतार लेते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण स्वतः(बिना शरीरादिके) आविर्भूत होते हैं, ऐक्य शरीरके अभिमान होने पर होता है, अर्थात् शुद्ध सतोगुणी शरीरका एवं अवतारका ऐक्याभिमान होता है यों कहनेका आशय यह है कि जब भगवान् शुद्ध सतोगुण शरीरमें प्रकट होते हैं तब अपनेको तथा शरीरको पृथक् नहीं समझ एक ही मानते हैं.

आधार और आधेय भाव उसमें होता है जो निरभिमानी है, हंस तो आनन्दमय है उसके सिर आदि प्रियरूप है भगवान्ने हंसरूप धारण किया है अतः हंसस्वरूपी कहलाते हैं. इसलिए इस अवतारका पृथक् निर्देश किया गया है.

इसके अनन्तर चार अन्य भी ज्ञान शक्तिके अवतार हैं, सनत्कुमार भी अवतार समान कहा गया है, क्योंकि उनने ज्ञान कलाके आवेशमें ज्ञानोपदेश किया है.

ऋषभके सम्बन्धमें विशेष कहते हैं, वह भगवान् ऋषभ हमारे पिता हैं इनमें षड्गुण ऐश्वर्यका आविर्भाव हुआ है, अतः आप भगवन्मार्गके प्रवर्त्तक हुए हैं, आपने अजनाभ नामवाले खण्डमें अपने ऐश्वर्यसे वृष्टि की 'शत्कृत्वः' कई बार दुष्काल आदिमें पालना की है जिससे वीर्यधर्म प्रकट कर दिखाया है प्रजामें प्रेम होनेसे 'यश' तथा एक सौ पुत्रोंको जन्म देनेसे 'श्री' गुण प्रकट किया है. आपने योगचर्यादि दिखाकर वैराग्यधर्म दिखाया है, ऐसे षड्गुणैश्वर्य युक्त ऋषभजीने ९ योगेश्वरोंको जन्म दिया है जिससे आप भगवन्मार्गके प्रवर्तक हैं विष्णु भगवान् इसी तरह अन्य अवतारोंमें भी ज्ञान एवं क्रिया शक्तिसे अवतीर्ण हुए हैं, भगवान्का हयग्रीवावतार ज्ञान प्रधान है, जिससे ही आपने वेदोंका उद्धार किया है और मधुकैटभ दैत्यका वध किया है, दोनों वर्णोंसे शब्द(वेद)को अपनेमें छिपाकर प्रकट हुए अतः उन दोनों मधु और कैटभ दैत्योंका भगवान्ने वध किया इस मधुमें दैत्यपना यह है कि जिस बाह्य प्रपञ्चमें मधु(रसानन्द) नहीं है, उसमें मधुका भान कराकर जीवोंको सत्य भगवद्रससे विमुख करना अतः इस दैत्यको मारकर जीवोंको शिक्षा दी है कि प्रपञ्चमें 'मधु'(रस) नहीं है इसमें आसक्ति न

कीजिये, कैटभ दैत्य वह है जो संसारमें जुगनुकी तरह किञ्चित् प्रकाश दिखानेवाली आसुरी मायासे उत्पन्न हुवा हो, यह कैटभ दैत्य जन्म-मरण रूप संसारका पोषण करता है, ऐसे प्रवाहके पोषक कैटभ दैत्यका वध हयग्रीवने कर, दैवी जीवोंमेंसे संसार प्रवाह वर्धक वृत्तिको निकाल दिया है, तथा वैदिकधर्मकी रक्षा की है अतः हयग्रीवावतार भी नारायणवत् ज्ञान क्रिया विशिष्ट अवतार है जिससे आपने लोकोपकार किया है।।१७।।

गुप्तोऽप्यये मनुरिलौषधयश्च मात्स्ये क्रोडे हतो दितिज उद्धरतोम्भसः क्ष्माम्।
कौर्मे धृतोऽद्रिरमृतोन्मथने स्वपृष्ठे ग्राहात् प्रपन्नमिमराजममुञ्चदार्तम्।।१८।।

श्लोकार्थः ऐच्छिक, प्रलयके समयमें मत्स्यावतार धारण कर मनु, इला, औषधि एवं वेदोंकी रक्षा की है, वराहावतार ले, हिरण्याक्ष दैत्यका वध कर भूमिको जलमेंसे ले आए हैं, अमृतमंथनार्थ मंदरपर्वत सुमद्र न चला जावे अतः कूर्मावतार ले के उस(मंदराचल) को अपनी पीठ पर स्थापित किया. इसी प्रभुने हरि(दुःखहर्ता)रूप धारण कर गजेन्द्रको ग्राहसे छुड़ाया।।१८।।

व्याख्यार्थः जैसे हयग्रीव अवतारमें वेदोंका उद्धार किया वैसे ही मत्स्यावतारमें भी वेदोद्धार करनेसे साम्य है अष्टम् मन्वन्तरानन्तर जब ऐच्छिक प्रलय हुआ तब भगवान्ने देखा कि पृथ्वी, अग्रिम अधिकारी और बीज आदि नष्ट हो जाऐंगे अतः इनकी रक्षा अवश्य कर्त्तव्य है यों विचारकर ही मनु, इला, औषधियां तथा वेदोंकी रक्षार्थ भगवान्ने मत्स्यावतार धारण किया, यह प्रलय ऐच्छिक होनेसे बहुत समय तक चलनेवाला है, अतः यह अवतार भी वैसा ही है. अष्टम् मन्वन्तरके अनन्तर यह प्रलय हुआ है इसलिए इसमें जो कार्य(लीला) हुआ है, वह पुष्टि है जिससे इसमें किसी प्रकारका भी दोष नहीं है. कृष्णावतारसे इस मन्वन्तरमें अलौकिक(अन्य प्रकारका) अधिकार होनेसे बहुत समय तक ज्ञानोपदेश हुआ है, भूमिके उद्धारकी समानतासे इसके बाद वराहावतार लिया है, हिरण्याक्षका जन्म दितिसे हुआ है अतः दैत्य है, यहां तृतीय स्कन्धके छठे अध्यायकी कथा कही है अतएव यहांकी भूमि उद्धार लीला गौण है जैसे श्रीकृष्णने भूमिका राक्षसोंके दुःखसे उद्धार किया है वैसे यहां उद्धार नहीं है यहां तो केवल जलमें मग्न भूमिको निकाला है, इसके बाद अमृतमंथनका कार्य सिद्ध हो तदर्थ कूर्मावतार ग्रहण कर पृष्ठ(पीठ) पर मन्दराचलको धारण किया है, पृष्ठ भाग अधर्मका है इसीलिए उस पर धारण कर दिखाया है कि इस लीलामें

कालकूट वचनादि दोष होंगे, भगवान्में पुष्टि है(अनुग्रह धर्म है) अतः दोष नहीं, अनुग्रह द्वारा धर्म पक्षकी रक्षाकी है.

देहाभिमान रहित चार अवतारोंका निरूपण करनेके अनन्तर ४-६ मन्वन्तरके अवतारोंका वर्णन करते हैं कि जैसे वे अभिमान रहित वैकुण्ठसे आकर अपने-अपने कार्य(लीला) पूर्ण कर फिर वैकुण्ठ पधार गए.

उन अवतारोंमेंसे चतुर्थी मन्वन्तरका एक अवतार 'हरि'का है, जिसने वैकुण्ठसे पधार कर ग्राहसे युद्ध करते हुए पीड़ा पाए हुए शरणागत गजेन्द्रकी रक्षा की है और ग्राहका वध किया है, ग्राह वैराग्यका हेतु होनेसे प्रथम कहा गया है, जैसे महाभारतके युद्धमें शरणागतोंकी रक्षा की, वैसे ही यहां भी गजेन्द्रकी रक्षा की हैं भगवान् पुष्टिस्थ हैं अतः यों करनेमें किसी प्रकारका दोष नहीं है, 'अमोचयत्' क्रिया कहनी चाहिए थी जिसका अर्थ होता है 'छुड़ाया' यों न कहकर 'अमुञ्चत्' क्रिया देकर भगवान्का सर्व कर्त्तृत्व दिखाया है, ''यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च'' इस श्रुतिका भी विरोध नहीं है कारण कि गजेन्द्र आर्त्त था आर्त्त ओदन नहीं होता है।।१८।।

संस्तुन्वतोऽब्धिपतितान् श्रमणान् ऋषींश्च इन्द्रं च वृत्रवधतस्तमसि प्रविष्टम्।
देवस्त्रियोऽसुरगृहे पिहिता अनाथा जघ्नेऽसुरेन्द्रमभयाय सतां नृसिंहे ।।१९।।

श्लोकार्थ: कल्पान्तरमें गरुड़की सवारी करते हुए समुद्रमें गिरे हुए श्रमण तथा ऋषियोंका वैकुण्ठ भगवान्ने उद्धार किया, क्योंकि वे अतिशय दुःखित होनेसे भगवान्की शरणमें गए थे, शरणागतका उद्धार करना भगवान्का व्रत है. ब्रह्महत्याके पापसे इन्द्रको मुक्त किया, देव स्त्रियोंको जिनको दैत्योंने भोगकेलिए कैद कर रखा था, उनको उस आपत्तिसे छुडाया था, नृसिंहावतार धारण कर प्रह्लादकी रक्षा की तथा हिरण्यकश्यपको मारा।।१९।।

व्याख्यार्थ: पञ्चममन्वन्तरमें वैकुण्ठ(भगवान्)ने तीनोंका उद्धार किया है जैसे कि, वेद पूर्व तथा उत्तर काण्डमें स्थित, समुद्रमें गिरे हुए श्रमणों तथा ऋषियोंका, एवं इन्द्रका वैकुण्ठ(भगवान्) ने मोक्ष किया है, समुद्रमें पड़े हुए श्रमणों तथा ऋषि मन्त्रद्रष्टा है यह कल्पान्तरका विषय है, इनका यह मन्त्रदृष्टत्व अब तिरोहित हो गया है. किन्हींका कहना है कि कश्यप ऋषि यज्ञार्थ समिधाओंको लेनकेलिए जा रहे थे तो उनने देखा कि श्रमणों तथा ऋषि, गो मूत्रमें पड़े हैं जिसको देखकर इन्द्र उनका उपहास(हंसी) करता था यह देख विपत्तिसे

वैकुण्ठ भगवान्ने इनको छुड़ाया. श्रमणों तथा ऋषियों दोनों पृथक्-पृथक् हैं इनका वैकुण्ठ भगवान्ने पृथक् प्रकारसे उद्धार किया, वृत्रासुरवधके समय इन्द्रको लगी हुई ब्रह्महत्याका प्रतिकार न हो सका जिससे वह तामसी(आसुरी) योनिको प्राप्त हुआ, उसका भी उद्धार वैकुण्ठ भगवान्ने किया है, जिसकेलिए मूल श्लोकमें 'च' शब्द दुबारा दिया है.

बलि राजाने जब फिर इन्द्रासन लिया तब मदमत्त असुरोंने अपना आसुरधर्म प्रकट करते हुए देव स्त्रियोंको अपने भोगार्थ कैद कर रखा, जिन अनाथाओंको भी दयालु भगवान्ने इस आपदासे छुड़ाया, इसी प्रकार चारका उद्धार अजित भगवान्ने किया है, निरभिमानी नृसिंह भगवान्ने सत्पुरुषोंको निर्भय करनकेलिए ही अवतार लिया है, न कि केवल प्रह्लादकेलिए अवतार लिया है, कारण कि प्रह्लाद तो मर्यादास्थभक्त है।।१९।।

देवासुरे च युधि दैत्यपतीन् सुरार्थे हत्वान्तरेषु भुवनान्यदधात् कलाभिः।
भूत्वाथ वामन इमाम् अहरद् बलेः क्ष्मां
याच्ञाच्छलेन समदाद् अदितेः सुतेभ्यः।। २०।।

श्लोकार्थः सकल मन्वन्तरोंमें जब-जब देव तथा असुरोंका परस्पर संग्राम हुआ है तब-तब अपने कलावतारोंसे देवोंके हितार्थ दैत्यपतिओं का वध कर त्रिभुवनके लोकोंकी रक्षा की है।।२०।।

व्याख्यार्थः आधे श्लोकसे मन्वन्तरके अवतारोंको कहते हैं, सामान्यतः सबको, विशेष प्रकारसे फिर आधे श्लोकसे वामनावतारका वर्णन करते हैं, सर्वमन्वन्तरोंके अवतारोंद्वारा युद्धमें दैत्योंको मारा है यह चरित्र देवोंकेलिए त्रिभुवनके लोकोंकी रक्षा की है, क्योंकि आप पुष्टिस्थ(अनुग्रह कर रहे) हैं. 'च' कहकर यह बताया है कि अन्य संग्रामोंमें भी रञ्जनताको दिखानकेलिए और देवोंको अवध्य(न मारे जाना) जतानेके वास्ते 'पतीन्' कहा, अर्थात् दैत्योंके पतिओंको मारा है, प्रत्येक मन्वन्तरकी भिन्नता दिखानकेलिए 'चतुर्दशत्व' कहा, और जताया है कि छः लीलाओंसे यह लीला कार्य किया है, मन्वन्तरके अवतारोंसे वामन चरित्रकी विलक्षणता दिखानकेलिए ही पृथक् कहा है, 'अथ' शब्दसे इसका प्रारम्भ ही भिन्न किया है.

इस पृथ्वीको सातवें मन्वन्तरमें, जो मत्स्यकृत प्रलय है वह कालान्तरमें है, अथवा बलिने जब स्वर्ग ले लिया था, उस समय सबकी बीजरूपमें स्थिति थी

बादमें प्राकट्य हुआ है, इस प्रकार मन्वन्तरका आरम्भ भी बीजरूप धर्मके आवेशसे तब ही हुआ है, कथा पूर्ववत् ही है, हरणांश स्वतः है, दानके कारण याचना की है, इसमें कोई दोष नहीं है क्योंकि प्रभु 'पुष्टिस्थ' हैं, देवोंमें स्वतः स्वर्ग ले लेनेकी सामर्थ्य नहीं है इसलिए उनको देव न कहकर अदितिके पुत्र कहा है, वामनका ही बढ़ जानेसे त्रिविक्रमत्व स्पष्ट देखा गया, 'वामन' वह तो अवतारके कारण नाम है प्रभुने पृथ्वी, स्वरूपसे हरण नहीं की है किन्तु बलिका सम्बन्ध होनेसे, आपने तो अपना इसमें स्वार्थ ही नहीं रखा है, जिसमें याचना ही हेतु है, यह याचना छल है क्योंकि दान अपनेलिए लिया जाता है. अतः अपनेलिए ही याचना की जाती है, जहां इस प्रकार याचना नहीं, तो वह याचना 'छल' कही जाती है.

''त्रिभिः क्रमैः(पदैः) असन्तुष्टः'' इस उक्तिसे ब्रह्माण्ड और उसके आवरण कहे हैं, अदितिकी तपस्यासे भगवान् प्रसन्न हुए हैं, इस मन्वन्तरमें केवल पुरन्दरकी ही प्रधानता नहीं है, तीन पदके दानके अभावसे अतः 'इमां' कहकर समग्र पृथ्वी कही है।।२०।।

निःक्षत्रियामकृत गां च त्रिसप्तकृत्वो रामस्तु हैहयकुलाप्ययभार्गवाग्निः।
सोऽब्धिं बबन्ध दशवक्त्रमहन् सलङ्कं
सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्तिः।।२१।।

श्लोकार्थः हैहय नामके क्षत्रिय वंशका नाश करनकेलिए भगवान्ने भार्गवाग्निरूप परशुरामावतार धारण किया जिसमें २१ बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय की है फिर रामचन्द्रजीका अवतार धारणकर समुद्र परसेतुको अलौकिक प्रकारसे बांधा, राक्षसोंके साथ लंका सहित रावणका वध किया, ऐसे लोकमें निर्मल यशवाले सीतापतिकी सर्वत्र जय है।।२१।।

व्याख्यार्थः श्रीरामका दो स्वरूपोंसे अवतार हुआ है, जिसका वर्णन करते हैं, 'तु' शब्दसे कितने ही विद्वान् यह आशय निकालते हैं कि 'परशुराम' भगवान्का आवेशावतार है, इस अवतारके प्राकट्यका कारण 'निःक्षत्रियां' पदसे स्पष्ट कह दिया है. वे क्षत्रिय हैहय वंशके थे परशुराम उन अधर्मी क्षत्रियोंके नाशार्थ २१ बार प्रकटे हैं, क्योंकि वे कभी भयके मारे डर जाते, कभी छिप जाते और कभी भाग जाते, तो उनको मारते नहीं जब ऐसी क्रिया न करते तब ही मारते, ऐसे क्षत्रियोंसे पृथ्वीको निष्कंटक करणार्थ परशुरामने उद्यम किया है, जब प्रभु

अनुग्रह करते हैं तब मर्यादाका विचार नहीं करते हैं, दत्तात्रेय पुष्टिस्थ स्वरूप हैं, परशुराम तथा रामचन्द्र दोनोंने मर्यादावतार होनेसे मर्यादा पालक हैं. अतः वे क्षत्रिय वध कर नहीं सकते, इसलिए भार्गवाग्निद्वारा क्षत्रिय वध किया है. २१ बार कहनेका आशय यह है यज्ञकी समिधाऐं २१ होती हैं, अतः यहां क्षत्रिय नाश २१ बार हुआ है, अथवा देवताओंकी संख्या २१ है अतः परशुरामने २१ बार ब्रह्म तेजकी रक्षा की है.

यादवोंमें हैहय कुल शतजित्(१०० को साथमें जीतनेवाला प्रत्येक था) तथा सहस्त्राजित्(प्रत्येक हैहय १००० को जीतनेवाला था) अतः वे इस कारण मर्यादोल्लंघन कर जाते थे, जिससे भार्गवाग्नि प्राकट्यद्वारा वह वंश नाश हुआ, अर्थात् भृगुमें जो भजवत्तेज था वह परशुरामरूपसे प्रकट होकर इस वंशके नाशका कारण बना, इस वैष्णव तेजसे कार्य होने पर आप परशुराम स्वतः शांत हो गए, जो इसको रूपक मानते हैं, वे लौकिक हैं.

श्रीराम शब्दसे दोनोंको एक समझते हैं और कितनेक श्रीरामचन्द्रको वैश्वानरावतार अग्निरूप मानते हैं, अस्तु श्रीरामचन्द्रके चरित्र ५ प्रकारके हैं, एवं अन्य लीलाऐं भी हैं, १. समुद्र बंधन, २. रावण वध, ३. सीतापतित्व, ४. सर्वसे उत्कृष्ट स्थिति, ५. स्वचरित्रोंसे सर्वके सर्व प्रकारके पाप नाश करना.

१. सेतु(पुल)द्वारा समुद्र बांधना अलौकिकता प्रकट करनेवाला चरित्र है.
२. लंका सहित रावण एवं राक्षसोंका वध यह चरित्र मर्यादासे अधिक है, क्योंकि इससे रामचन्द्रका अजेयत्व प्रकट होता है.
३. सीतापतित्वसे आपने अपनी मर्यादा तथा अपना सर्व पतित्व(स्वामीपन) सिद्ध किया है, एवं अपना पुष्टिबल भी प्रकट किया है, पति वह जो भयरहित हो जिसके आश्रयसे जीवादि निर्भय हुए हैं, कलादि भयसे भी छूट गए हैं.
४. आपकी स्थिति सर्व प्रकारके सदैव सबसे सर्वोत्कृष्ट रही है.
५. आपके चरित्रके गुणगानसे सर्वके पापादि नष्ट होते हैं, आप सर्वदोष रहित हैं अतः आप निर्दोषके चरित्र पतित पावन हैं।।२१।।

भूमेर्भरावतरणाय यदुष्वजन्मा जातः करिष्यति सुरैरपि दुष्कराणि। वादैर्विमोहयति यज्ञकृतेऽतदर्हान् शूद्रान् कलौ क्षितिभुजो न्यहनिष्यदन्ते।। २२।।

श्लोकार्थ: पृथ्वीका भार उतारनकेलिए अजन्मा भगवान् कृष्ण यादवोंमें प्रकट होके, देव भी जो न कर सकें, वैसे कार्य करेंगे, भगवान् बुद्धावतार धारण

कर जो अयोग्य यज्ञ कर रहे हैं उनकी यज्ञमें अश्रद्धा पैदा करानकेलिए वेद निन्दा करेंगे, जिससे वे आसुरी अनाधिकारी यज्ञादि वैदिक कर्म त्याग देंगे, अनन्तर कलियुगमें म्लेच्छ प्रायः शुद्र राजाओंका नाश करेंगे(जिससे पुनः धर्म युग प्रवृत्त होगा।।२२।।

व्याख्यार्थ: इस श्लोकमें शेष तीन अवतारोंका वर्णन करते हैं, कृष्णमें सर्व अवतारोंसे विशेषता बताते हैं, एक वे जन्मे होकर भी प्रकट हुए हैं, गुणवाले कभी जन्म भी ले लेवे परन्तु ये निर्गुण अर्थात् गुणातीत होते हुए भी आविर्भूत हुए हैं, बीज एवं प्रयोजनके सिवाय किसीकी उत्पत्ति नहीं होती है, जन्म लेनेका बीज कर्म है. कृष्णके तो कर्मरूप बीज है ही नहीं फिर पैदा कैसे हुए? एवं जगत्में कोई अपना प्रयोजन नहीं फिर भी प्रकट हुए सो क्यों? जिसके उत्तरमें कहते हैं, कि यादव भक्त हैं इसका वर्णन नवम स्कन्धमें हुआ है उनकी भक्ति 'बीज' है और पृथ्वी अत्याचारसे पीड़ित दुःखी है. दुष्ट नृपतियोंके भारसे दबी हुई है, ऐसी भूमिके भारका उतारना प्रभु प्राकट्यमें निमित्तकारण(प्रयोजन) है, यह सब दशम स्कन्धमें कहा है, आपके गुणातीतपनमें कारण यह है कि आपने वे चरित्र किये हैं जो देवता भी न कर सके, जो कार्य गुणावतार न कर सके, वे कार्य तिर्यंग योनियोंमें प्रकट होके कर दिखाए हैं, इससे यह सूचित किया है कि, आपके चरित्र अनन्त हैं.

बुद्धावतारका वर्णन करते हैं कि वह बुद्ध भगवान् अनेक वादोंमें ऐसे चरित्र(उपदेश) करेंगे जैसे अयोग्य अनधिकारी यज्ञ न करे, उन वादोंकेद्वारा आसुरी जीवोंकी बुद्धि जो संसर्गसे यज्ञमें लगी थी वह बदलकर विपरीतमें (अधर्म) दृढ़ होने लगी, यज्ञ भगवान् स्वेच्छासे अन्तर्हित हो गए हैं. बुद्ध भगवान्ने यह कैसा पुरुषार्थ(धर्म कार्य) किया? जिसके उत्तरमें कहते हैं, कि कलियुगमें मनुष्य यज्ञके योग्य न रहेंगे, क्योंकि अयोग्य पुरुषका स्त्रियोंसे विवाह होनेसे बहुत करके पूजा, कुण्ड, गोलक आदि वर्णसंकर होगी, इनका निश्चय शास्त्रोंके द्वारा (वाद्द्वारा) ही हो सकता है, वेद और वेदार्थमें वर्णसंकरकी ही अन्यथा बुद्धि होती है, वे वर्णसंकर यज्ञके अधिकारी नहीं होते तो भी यज्ञ करेंगे, जिसकेलिए भगवान् बुद्धने इस प्रकारका उपदेश देकर उनको इससे रोका है.

'त्रैगुण्य विषया वेदः' यह योगशास्त्र है, अतः योगीजन तो प्रवाहसे निकालनकेलिए मर्यादा कहते हैं जिसका सारांश यह है कि गुणमयोंको आगे कर उनकेद्वारा सबको निर्गुणकी तरफ खींच लेते हैं, इसलिए गीताके 'यावनर्थ'

श्लोकमें इसको विस्तारसे समझाया है, इसलिए बुद्धने परीक्षाकेलिए वेदकी निन्दाकी है, अर्थात् जो जारजात न होंगे वे तो वेदको ''वेदो नारायणः साक्षात्''के अनुसार भगवद्रूप मानेंगे, शेष जो वर्णसंकर हैं वे ही इन वादोंसे वेद धर्मसे बहिर्मुख होंगे.

कल्कि अवतार कहते हैं, अधर्मी म्लेच्छा प्रायः शुद्र राजा पृथ्वीका उपभोग न करें, तदर्थ भगवान् कल्कि अवतार लेकर शुद्र सम दुष्ट राजाओंका वध करेंगे, कलि प्रभावसे ब्राह्मणादि वर्ण सत्व आदि गुण भी क्रमशः नाश होंगे ऐसी दशा देख भगवान् पुनः उनकी स्थापनाकेलिए कल्कि अवतारद्वारा दुष्ट राजाओंका नाशकर जय-जयकार करेंगे.

एवंविधानि कर्माणि जन्मानि च जगत्पतेः।
भूरीणि भूरियशसो वर्णितानि महाभुज।।२३।।

श्लोकार्थ: हे महाभुज! जगत्के स्वामी भगवान्के इस प्रकारके कर्म एवं जन्म अनेक हैं और उनका यश भी अनेक प्रकारसे वर्णित है।।२३।।

व्याख्यार्थ: इस प्रकार भगवान्के चरित्रोंका वर्णनकर अब उपसंहार करते हैं.

भगवच्चरित्र इस प्रकार धर्मस्थापक है, धर्म अनादि सिद्ध है तो भी वह भगवान्के चरित्रोंसे दृढ़ होता है. प्रभु चरित्रोंसे धर्मनाशक प्रहारोंकी निवृत्ति हो जाती है. धर्म ही जगत्का रक्षक है, उस धर्मको रक्षासे स्वयं जगत्की रक्षा हो जाती है, पति वह हो सकता है जो स्वयं अकुतोभय(निर्भय) हो, जिससे वह सर्वदा सर्व प्रकार रक्षा करनेमें समर्थ होता है, ऐसा पति भगवान् ही है, जो कभी किसीसे न डरकर धर्म रक्षार्थ विविध योनियोंमें प्रकट हो धर्म रक्षाद्वारा जगत्की रक्षा करते हैं, अतः 'जगत्पतिः' कहे गए हैं, धर्मादि चारों पुरुषार्थ एवं भक्ति शरणादिके स्थापक होनेसे आपका यश तथा आपकी आनन्दप्रद लीलाओंद्वारा रसदान आदिका महान् यश कवियोंने स्पष्ट वर्णन किया है. 'हे महाभुज!' विशेषणसे यह बताया है कि आपमें क्रियाशक्तिका प्राधान्य है अतः इन चरित्रोंमें आपका विश्वास है।।२३।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण एकादश स्कन्धकी श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी(संस्कृत टीका)के जीव मुक्ति(ब्रह्म, भावमुक्ति) प्रकरणके चतुर्थ अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण

अध्याय ५

भक्तिहीन पुरुषोंकी गति और भगवान्‌की पूजाविधिका वर्णन

अवतरणिका: कलियुगमें भगवत्सेवा, भगवत्पूजा, एवं भगवन्नाम संकीर्तनका उपदेश सब प्राणियोंकेलिए किया गया है अर्थात् भगवद्‌भक्तिरूप जो विद्याका पञ्चम पर्व है जो देहाध्यासरूप अविद्याका नाशक है उसका निरूपण यहां किया गया है. यहां जीवन्मुक्तिमें ब्रह्मभावरूप प्रथम अवान्तर प्रकरण समाप्त होता है. भगवद्‌भजनका जो विरोधी हो ऐसे भ्रान्तवादसे दूर रहना और शुद्‌ध होकर भगवद्‌देशमें रहकर अलौकिक गुणगान करते हुए भगवान् कृष्णका ही भजन करना. यह कलियुग सब युगोंसे उत्कृष्ट है. सत्ययुगमें ध्यानसे जो फल मिलता था, त्रेतामें यज्ञसे जो फल मिलता था एवं द्वापरमें पूजन करनेसे जो फल मिलता था वह फल कलियुगमें केवल हरिनाम संकीर्तनसे ही प्राप्त होता है. अनन्य भगवद्‌भक्तकेलिए नित्य नैमित्तिक श्राद्‌ध तर्पणादि धर्मका नियंत्रण नहीं है. भगवद्‌भक्तको अन्य देवताओंमेंसे अपने मनकी वृत्तिको हटाकर अपना आत्मभाव भगवान्‌के विषयमें ही रखना चाहिए और अनन्यरूपसे भगवान्‌का ही आश्रय रखना चाहिए. ऐसा करनेसे वह भक्त, देव, ऋषि, पितर, आप्त और मनुष्य इन पांच ऋणोंसे मुक्त हो जाता है.

वक्ता श्रोता तथा वाच्यं त्रिभिरुक्तं विशेषतः।
लोके सर्वत्राप्रवृत्तौ प्रामाण्यं कुण्ठितं भवेत्।।कारि.१।।
अतस्तत्साधकोऽध्यायः चतुर्थोऽयम् उदाहृतः।
देशकालस्वभावानां निर्धारक उदाहृतः।।कारि.२।।
अत्यार्थो भगवद्‌देशे स्थित्वा लौकिकगीतितः।
निराकृत्यान्यथावादान् शुद्‌धः कृष्णं भजेद् इति।।कारि.३।।

कारिकार्थ: वक्ता, श्रोता और जो विषय कहने योग्य हैं ये तीन ही विशेषकर ३ अध्याय १, २, ३में कहे हैं, यदि इन तीनोंकी प्रवृत्ति(प्रचार) सर्वत्र न होवे तो ये तीनों ही कुण्ठित(निकम्मे) बन जाएं, ये कुण्ठित न हो इनकी सर्वत्र प्रवृत्ति होती रहे तदर्थ चतुर्थ अध्याय कहा है, इस चौथे अध्यायमें वसुदेव नारद संवाद, देश, काल तथा स्वभावका निर्णय आदि विषय स्पष्ट वर्णन किये हैं.

जिसका तात्पर्य यह है कि, मुमुक्षु(मोक्षकी इच्छावाले) मनुष्यको चाहिए कि भगवद्‌देश, पवित्र वन आदिमें रहकर अलौकिक भगवद्‌

गुणानुवादका गान करते-करते मनसे अन्यथावादोंको निकालकर भगवान् श्रीकृष्णका ही भजन करे।।१-३।।

राजोवाच

भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमाः।
तेषाम् अशान्तकामानां का निष्ठाविजितात्मनाम्।। १।।

श्लोकार्थः निमि राजा कहते हैं कि, हे आत्म विद्यामें विशारद(सर्वज्ञ) योगेश्वरों! लोकमें जो पुरुष प्रायः षड्गुण(ऐश्वर्यादि गुण) युक्त, दुःखहर्ता हरिका भजन नहीं करते हैं, उन अशांत कामवाले तथा अजितेन्द्रियोंकी क्या गति होती है?।।१।।

व्याख्यार्थः राजा निमि स्वभावके विजयकेलिए, भ्रम पैदा करनेवाले वादोंका निराकरण आवश्यक जान वैसा प्रश्न करते हैं. मूल श्लोकमें 'भगवन्तं' पद कहकर यह सूचित किया है कि प्रभुके भजनसे सर्व प्रकारकी इष्ट सिद्धि होती है, अर्थात् जो हम चाहें सो मिलता है, 'हरि' पदसे यह बताया है कि परमात्मा भजन करनेवालेके सर्व प्रकारके दुःखोंको नाश करते हैं, तात्पर्य यह है कि, उनके भजनसे ही मनुष्य निश्चिंत एवं निर्भय हो, इस लोक तथा परलोकका आनन्द ले सकता है तो भी ऐसे विभु(समर्थ) प्रभुको बहुत लोग नहीं भजते हैं.

आप आत्मवेत्ता होनेसे सर्वज्ञ हैं एवं भगवत्मार्गके ज्ञाता होनेसे श्रेष्ठ हैं अतः इस मेरी शंकाका निवारण आप ही कर सकते हैं, मेरा यह प्रश्न ज्ञान और योग सम्बन्धी नहीं है, यह आपकेलिए दिए हुए विशेषणोंसे आप समझ गए होंगे, आप कृपाकर बताइए कि उन लोगोंको इस लोक और परलोकमें क्या फल मिलता है? हालांकि केवल भजन न करनेका फल प्रवाह ही मिलता है, संसारमें एक ऐसे प्रवाही है, जो भजन तो नहीं करते हैं किन्तु साथमें उनकी(भजन करनेकी वा करनेवालोंकी) निन्दा भी करते हैं, दूसरे प्रवाही ऐसे हैं जो केवल भजन नहीं करते हैं किन्तु उनकी निन्दा भी नहीं करते हैं क्योंकि वे अज्ञ नहीं है, जो लोग विगुण हैं उनके दोष निवृत्त हो जावें यह ही गुण हैं, यहां भी निन्दाका निषेध है अतः जो निन्दा करता है उनका नरकमें पतन होता है, इसमें क्या सन्देह है? यदि यों कहो तो जो निन्दा नहीं करता है उसको तो कुछ फल मिलना चाहिए जो निन्दक है वे भगवद्भजनके योग्य नहीं हैं. उनकी कामनाऐं अब तक शांत नहीं हुई हैं इसलिए प्रवाही होनेसे इन्द्रियोंको भी वशमें नहीं कर सके हैं जिससे निषिद्ध

कर्म करनेसे भी डरते नहीं हैं, वैसे अधिकारी यदि वैदिक होकर वेदमार्गमें स्थिति करनेके साथ वेदकी निन्दा नहीं करते हैं तो उनके भी अधःपातमें संशय होता है अविजितेन्द्रिय सकाम पुरुषोंका भी वेद उद्धार करता है–मार्गान्तरमें स्थित तो स्वभावसे ही पतित हैं इसलिए यह प्रश्न वैदिकोंकेलिए ही है.

भगवद्भक्तोंको विकर्मस्थ मानकर धर्मस्थापनार्थ उनकी(वेदोंकी वा भक्तोंकी) निन्दा, इसलिए प्रवाह फल ही मिलेगा इसमें संदेह है*।।१।।

(*बालप्रबोधिनी व्याख्यार्थ: पञ्चम अध्यायमें भक्ति हीनोंकी एवं विषयी लोगोंकी दुर्गतिका वर्णन है. प्रत्येक युगमें पूजाका प्रकार एवं उसके भेदका भी निरूपण है भगवद्भक्त भगवान्की मायाको तर जाते हैं अतः वे संसारके दुःखोंसे मुक्त हो जाते हैं, यदि भगवद्भक्त सुखकेलिए कर्म करते हैं तो उन्हें उस कर्मसे दुःखकी प्राप्ति होती है इसका वर्णन पहले आ गया है. अब अभक्तोंके फल विपर्ययकी विशेष जिज्ञासावाले निमिराजा पूछते हैं. योगिराज चमसकेलिए राजाने 'आत्मवित्तमाः' सम्बोधन इसलिए दिया है कि आप इसका उत्तर देनेमें समर्थ हैं. जो भगवान्का भजन नहीं करते हैं उन लोगोंकी क्या गति होती है? भगवान्के भजन बिना मुक्ति कदापि नहीं होती इस विषयमें तो मुझे कोई सन्देह नहीं है इसको सूचित करनकेलिए 'भगवन्तं'का विशेषण 'हरिं' पद दिया है. हरिका अर्थ है भक्तोंके सांसारिक दुःखोंको दूर करनेका जिनका स्वभाव है. जब हरि सांसारिक दुःखोंको दूर कर देते हैं तो अभक्त उनका भजन क्यों नहीं करते उसका कारण बताते हैं 'अशांतकामानां' वे अभक्त विषय भोगोंकी तृष्णामें फंसे हुए हैं इसलिए वे विषय भोगोंका ही भजन करते हैं संसार दुःख निवर्त्तक भगवान्का नहीं. ऐसा करनेमें 'अविजितात्मनां' हेतु है उनकी इन्द्रियां, अन्तःकरण उनके वशमें नहीं हैं अतः भगवद्भजन करनेमें वे समर्थ नहीं हैं. इस श्लोकमें 'प्रायः' यह पद इस आशयसे है कि इस प्रकारके लोग तो बहुत मिलेंगे भगवद्भक्त तो कोई विरला ही मिलेगा।।१।।)

आभासार्थ: चमस योगेश्वर १७ श्लोकोंसे उत्तर कहते हैं उनके योग १७ प्रकारके हैं और सिद्धान्त पांच हैं, जिसमें वैष्णव तो भजन करते ही हैं, शैव यदि निन्दक बने तो समझना चाहिए कि वे पाखण्डी हैं, साङ्ख्य और योगका निषेध प्रश्नमें ही कर दिया है, अतः शेष अज्ञ वैदिक ही रहते हैं, प्रवाहमें पतित लोकमें चतुर होते हैं, उनकी गति दो श्लोकोंसे कहेंगे, प्रवाह उत्पन्न लोक चतुरोंकी

क्रमशः कैसे उत्पत्ति हुई है वह वर्णन करते हैं:

चमस उवाच

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्।।२।।

श्लोकार्थ: चमस योगेश्वर कहते हैं कि, भगवान्ने जो पुरुषरूप धारण किया है उनके मुख, बाहु, उरु और पादोंसे आश्रम सहित चार वर्ण उत्पन्न हुए हैं किन्तु सत्त्वादि गुणोंके भेदके अनुसार वर्ण एवं आश्रमोंके धर्म कर्म पृथक् हुए हैं अतः तदनुसार उनके आचरण(कर्तव्य)में प्रवृत्त हुए हैं।।२।।

व्याख्यार्थ: भगवान्के मुख, बाहु, उरु, और चरणोंसे ४ वर्ण और ४ आश्रम उत्पन्न हुए हैं, सत्त्वगुणी ब्राह्मणवर्ण, रजोगुणी क्षत्रियवर्ण, रज और तम मिश्रित वैश्यवर्ण तथा केवल तमोगुणी शूद्रवर्ण हैं, वैसे ४ आश्रम-गृहस्थाश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम, अपने-अपने आश्रमकी वृत्ति(धर्म) युक्त उत्पन्न हुए।।२।।*

* सुबोधिनी टीका केवल दो श्लोकों तक ही मिलती है अतः तीसरे श्लोकसे बालप्रबोधिनी संस्कृत टीकाका केवल हिन्दी अनुवाद शेष ५० श्लोकोंका दिया गया है.

बालप्रबोधिनी व्याख्यार्थ: अभक्त कृतघ्न हैं भगवान्के उपकारोंको नहीं मानते हैं भगवान्ने अपना भजन करनकेलिए ही सब वर्णोंको अपने अंगोसे उत्पन्न किया है यह 'मुखबाहूरूपादेभ्यः' इस श्लोकसे बताते हैं. भगवान्के मुखादि अंगोसे साधनभूत सत्त्वादि गुणोंसे तथा ब्रह्मचर्य आदि आश्रमोंके साथ अलग-अलग ब्राह्मण आदि चार वर्ण उत्पन्न हुए ऐसा इसका सम्बन्ध है. उनमें मुखसे सत्त्वगुणसे ब्राह्मण, दोनों भुजाओंसे सत्त्वरजसे क्षत्रिय, दोनों जांघोसे रजस्तमसे वैश्य, दोनों पैरोंसे तमोगुणसे शूद्र उत्पन्न हुए, आश्रमोंकी उत्पत्तिका प्रकार इस प्रकार है. गृहस्थाश्रम जांघोसे, हृदयसे ब्रह्मचर्य, वक्षःस्थलसे वानप्रस्थ, मस्तकसे संन्यास उत्पन्न हुए. इस विषयमें "**गृहाश्रमोजघ्नतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम. वक्षःस्थलाद्वने वासो न्यासः शिर्षणि च स्थितः**" यह भागवतका वचन प्रमाण है।।२।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण एकादश स्कन्धकी श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी(संस्कृत टीका) के जीव मुक्ति(ब्रह्म, भावमुक्ति) प्रकरणके पञ्चम अध्यायके प्रथम दो श्लोक हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण.

य एषां पुरुषं साक्षाद् आत्मप्रभवम् ईश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः।।३।।

श्लोकार्थः जो मनुष्य, वर्ण और आश्रमोंके भगवान् एवं उत्पत्तिकर्त्ता तथा नियमकर्ता प्रभुका भजन नहीं करते हैं, और उस परमात्माकी अवज्ञा (तिरस्कार) करते हैं, वे अपने पदसे भ्रष्ट होकर अधोगतिको प्राप्त करते हैं।।३।।

बा.पप्र.: इन चारों वर्णों एवं आश्रमवालोंमें जो साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान्को अज्ञानसे नहीं भजते हैं अथवा जानकर भी भगवान्का अनादर करते हैं वे अपने स्थान, वर्ष और आश्रमके अधिकारसे भ्रष्ट होकर नरकमें गिरते हैं, ऐसे लोग कृतघ्न कहे जाते हैं. भगवान्ने अपनी आत्मासे उनकी उत्पत्ति की है फिर भी वे उनका भजन नहीं करते तथा तिरस्कार करते हैं इसलिए भगवान् भी उन्हें नरकमें गिराते हैं. नरकमें गिरानेकी उनमें सामर्थ्य है यह 'ईश्वरम्' इस पदसे स्पष्ट है।।३।।

दूरे हरिकथाः केचिद् दूरेचाच्युतकीर्तनाः।
स्त्रियः शूद्रादयश्चैव तेऽनुकम्प्या भवादृशाम्।।४।।

श्लोकार्थः अनेक स्त्रियां और शूद्रादि भगवान्की कथा और उनके नाम संकीर्तन आदिसे कुछ दूर हो गए हैं, वे भी आप जैसे भगवद्भक्तोंकी दयाके पात्र हैं, आप लोग उन्हें कथा-कीर्तनकी सुविधा देकर उनका उद्धार करें।।४।।

बा.प्र.: जिनने भगवान्की कथा कभी सुनी न हो तो वे भगवान्का नाम संकीर्तन तो करेंगे कैसे? ऐसे ब्राह्मण आदि कोई वर्णाश्रमी तथा स्त्री, शूद्र ये सब आपके जैसे भगवद्भक्तोंके तथा अधिकार प्राप्त राजाओंके दयाके पात्र हैं. अतः कृपा करके उन्हें आप साम, दान आदि उपायोंसे शिक्षित करिये।।४।।

विप्रो राजन्यवैश्यौ च हरेः प्राप्ताः पदान्तिकम्।
श्रौतेन जन्मनाथापि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः।।५।।

श्लोकार्थः ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य जन्मसे, वेदाध्ययनसे तथा यज्ञौपवीत आदि संस्कारोंसे भगवान्के चरणोंके निकट तक पहुंच चुके हैं फिर भी वे वेदोंका असली तात्पर्य न समझकर अर्थवादमें लगकर मोहित हो जाते हैं।।५।।

बा.प्र.: रजोगुणकी अधिकताके कारण उनके संकल्प(विचार) हिंसा विषयक ही होते हैं. विविध प्रकारके विषयभोगोंकी कामनाका उनमें आवेश आग्रह रहता है. उनका क्रोध तो सर्पके क्रोधके समान होता है. दूसरोंको ठगनकेलिए धर्माचरणकी प्राप्तिकेलिए कर्म करने लग जाते हैं ऐसा करनेमें

आम्नायवाद कारण है. वेदोंमें जो अर्थवाद है जैसे ''अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य याजिनः सुकृतं भवति'' चातुर्मास्य यज्ञ करनेवालेको क्षयरहित सुकृत होता है इत्यादि मोहक वेद वाक्यके भुलावेमें पड़कर यज्ञ करते हैं, भगवान्का आराधन नहीं करते हैं।।५।।

कर्मण्यकोविदाः स्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिनः।
वदन्ति चाटुकान् मूढा यया माध्व्या गिरोत्सुकाः।।६।।

श्लोकार्थः उन्हें कर्मका रहस्य मालूम नहीं है. मूर्ख होने पर भी वे अपनेको पण्डित मानते हैं और अभिमानमें अकड़े रहते हैं. वे मीठी-मीठी बातोंमें भूल जाते हैं और केवल वस्तु शून्य शब्द-माधुरीके मोहमें पड़कर चटकीली-भड़कीली बातें करते रहते हैं।।६।।

बा.प्र.: पञ्चम श्लोकमें जिस मोहका वर्णन किया था उसीको विस्तारसे छठे श्लोकमें 'कर्मण्यकोविदाः'से करते हैं जिस प्रकारसे कर्म बंधन करनेवाले न हो उस तरहके कर्म करनेकी जिनमें समझ नहीं है. यद्यपि उन्हें बंधन न कर सके ऐसे कर्म करनेकी समझ नहीं है तो वे इस विषयमें जानकारोंसे ज्ञान प्राप्त कर लेंगे परन्तु ऐसा भी संभव नहीं है 'स्तब्धाः' जो अनम्र होते हैं वे किसीकी सलाह नहीं लेते 'मूर्खाः पण्डितमानीनः' जो मुर्ख होते हुए भी अपनेको पण्डित समझदार मानते हैं वे तो अपना मन माना ही करेंगे और वे तो उलटे जहां गर्मी, ठंड, ग्लानि तथा शत्रु नहीं है ऐसा मधुर जो कानों को अच्छी लगनेवाली वाणी है उसमें उत्सुक होकर लोगोंके सामने ऐसी चटकीली बातें करते हैं कि हम लोग तो स्वर्गमें देवता बनकर अप्सराओंके साथ विहार करेंगे. ''अपामसोममममृता अमूमप्सरोभिः सह विहरिस्यामः''।।६।।

रजसा घोरसङ्कल्पाः कामुका अहिमन्यवः।
दाम्भिका मानिनः पापा विहसन्त्यच्युतप्रियान्।।७।।

श्लोकार्थः रजोगुणकी अधिकताके कारण उनके संकल्प बड़े घोर होते हैं. कामनाओंकी तो सीमा ही नहीं रहती, उनका क्रोध भी ऐसा होता है जैसे सांपका, बनावट और घमंडसे उन्हें प्रेम होता है. वे पापी लोग भगवान्के प्यारे भक्तोंकी हंसी उड़ाया करते हैं।।७।।

बा.प्र.: ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये वेदाध्ययनादि अधिकारको प्राप्त होकर भी भजनसे विमुख हो जाते हैं उनकी 'विप्रोराजन्य' इस श्लोकसे निन्दा

करते है. ब्राह्मण आदि त्रैवर्णिक वेदाध्ययन, उपनयन, अध्यापन, यजनादि अधिकारसे तथा जन्मसे हरिके चरणोंके निकट पहुंच जाते हैं अर्थात् आराधनाके द्वारा चरण प्राप्तिकी योग्यताको प्राप्त होते हुए भी मोहको प्राप्त हो जाते हैं तब भगवान्की आराधनाको छोड़कर स्वर्गादिका ढोंग बनानेवाले अत्यन्त दुष्ट अहंकारी निरन्तर निषिद्ध आचरणमें तत्पर पापी भगवान्के प्यारे भक्तों पर हंसते हैं उनका उपहास करते हैं।।७।।

वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो गृहेषु मैथुन्यपरेषु चाशिषः।
यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिणं वृत्यै परं नन्ति पशूनतद्विदः।। ८।।

श्लोकार्थ: वे मूर्ख बड़े बूढ़ोंकी नहीं, स्त्रियोंकी उपासना करते हैं, यही नहीं वे परस्पर इकट्ठे होकर उस घर-गृहस्थीके सम्बन्धमें ही बड़े-बड़े मनसूबे बांधते हैं, जहांका सबसे बड़ा सुख स्त्री-सहवासमें ही सीमित है. वे यदि कभी यज्ञ भी करते हैं तो अन्न-दान नहीं करते, विधिका उल्लंघन करते और दक्षिणा तक नहीं देते. वे कर्मका रहस्य न जाननेवाले मूर्ख केवल अपनी जीभको सन्तुष्ट करने और पेटकी भूख मिटाने शरीरको पुष्ट करनकेलिए बेचारे पशुओंकी हत्या करते हैं।।८।।

बा.प्र.: प्रभक्तोंकी कामुकताका विशेष विवेचन करते हैं वे लोग स्त्रियोंको ही महत्त्व देते हैं उन्हींकी उपासना करते हैं बड़े बूढ़ोंका उनके यहां कोई महत्त्व नहीं है घरमें भी दाम्पत्य सुखकी प्राप्ति हो ऐसे ही परस्पर शुभ कामना करते हैं अर्थात् धन, मकान, स्त्री, पुत्रादि सम्पत्तियां हमें प्राप्त हो ऐसा परस्पर आशीर्वाद देते हैं. अब दांभिकता(ढोंग)का विशेष विवेचन करते हैं वे यदि यज्ञ करते हैं तो उसमें अन्नदान नहीं करते विधि जो यज्ञके नियम है उनका पालन नहीं करते हैं और दक्षिणा भी नहीं देते. केवल अपने खानकेलिए ही पशुओंकी हत्या करते हैं इस प्रकारका अनर्थ वे इसलिए करते हैं कि न तो उन्हें यज्ञकी विधिका ज्ञान है और न उन्हें हिंसाके दोषोंका ज्ञान है।।८।।

श्रिया विभूत्याभिजनेन विद्यया त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा।
जातस्मयेनान्धधियः सहेश्वरान् सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान् खलाः।। ९।।

श्लोकार्थ: धन-वैभव, कुलीनता, विद्या, दान, सौन्दर्य, बल और कर्म आदिके घमण्डसे अंधे हो जाते हैं तथा वे दुष्ट उन भगवत्प्रेमी सन्तों तथा ईश्वरका भी अपमान करते हैं।।९।।

बा.प्र.: कामुकता तथा दाम्भिकताका विवेचन तो पहले आ चुका अब मानिता अर्थात् घमण्डका विशेष विवेचन करते हैं. धन वैभवादिसे उत्पन्न घमण्डसे वे अन्धे विवेकहीन हो जाते हैं अतः ईश्वरका और भक्तोंका अपमान करते हैं. सन्त कौनसे इस आशंकाके निवारणार्थ उसका विशेषण दिया 'हरि प्रियान्' भगवान् है प्रिय जिनको अर्थात् भगवद्भक्तोंका वे अपमान करते हैं. श्री, धन आदि सम्पत्ति, विभूति, अधिकार आदिकी प्राप्ति, अभिजन, जनसंग्रह, विद्या, तर्क शास्त्र आदिका अभ्यास, त्याग, दान, रूप, सौन्दर्य, बल, शारीरिक बल, कर्म, श्रौत स्मार्त कर्म करना इत्यादि अभिमानसे भक्त और भगवान्का अपमान करते हैं. यहां यह आशंका हो सकती है कि श्री आदि तो पुरुषार्थका कारण है उनसे गर्व अभिमान कैसे होता है उसके निवारणार्थ 'खलाः' पद दिया है वे दुष्ट अन्तःकरणवाले हैं इसलिए उनकी श्री आदि पुरुषार्थ साधक न होकर गर्वको उत्पन्न करनेवाले बन गए।।९।।

सर्वेषु शश्वत्तनुभृत्स्ववस्थितं यथा स्वमात्मानमभीष्टमीश्वरम्।
वेदोपगीतं च न शृण्वतेऽबुधा मनोरथानां प्रवदन्ति वार्तया।।१०।।

श्लोकार्थ: राजन्! वेदोंने इस बातको बार-बार दुहराया है कि भगवान् आकाशके समान नित्य-निरन्तर शरीरधारियोंमें स्थित हैं, वे ही अपने आत्मा और प्रियतम है. परन्तु वे मूर्ख इस वेद वाणीको तो सुनते ही नहीं और केवल बड़े-बड़े मनोरथोंकी बात आपसमें कहते सुनते रहते हैं।।१०।।

बा.प्र.: नवम श्लोकमें बताया है कि दुष्ट लोग लक्ष्मी आदि के मदसे भक्तोंका अपमान करते हैं परन्तु केवल इतना ही नहीं वे वेदोंकी बात भी नहीं सुनते यह इस दशम श्लोकमें बताई है सर्वदा सब प्राणियोंमें स्थित और वेदोंके द्वारा उद्घोषित जो(भगवान्) आत्मा है तथा जो अत्यन्त प्रीतिका विषय है उसकी नहीं सुनते किन्तु अपनी मनमानी बात अर्थात् स्त्री सुख, मांस, मद्य आदिकी बातोंमें समय यापन करते हैं. भगवान् सब प्राणियोंमें स्थित होते हुए भी उनके दोषोंसे उसका स्पर्श नहीं होता इसकेलिए आकाशका दृष्टान्त दिया है जैसे आकाश सर्वत्र विद्यमान रहते हुए भी निर्लिप्त रहता है. वेदोंकी बात न सुननेका कारण तो यह है कि वे अबुध-बेसमझ हैं।।१०।।

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु सुराग्रहैरासु विवाहयज्ञ-निवृत्तिरिष्टा।।११।।

श्लोकार्थ:(वेद विधिके रूपमें ऐसे ही कर्मोंके करनेकी आज्ञा देता है, जिनमें मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती.) संसारमें देखा जाता है कि मैथुन, मांस और मद्यकी और प्राणीकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाती है तब उसे उसमें प्रवृत्त करनकेलिए विधान तो हो ही नहीं सकता. ऐसी स्थितिमें विवाह, यज्ञ और सौत्रामणि यज्ञके द्वारा ही जो उनकेसेवनकी व्यवस्था दी गई है, उसका अर्थ है लोगोंकी उच्छृंखल प्रवृत्तिका नियंत्रण, उनका मर्यादामें स्थापन, वास्तवमें उनकी ओरसे लोगोंको हटाना ही श्रुतिको अभीष्ट है।।११।।

बा.प्र.: शंका होती है कि मैथुन आदिका जब वेदोंमें विधान है तो फिर उसकी निन्दा क्यों की जाती है? इसका उत्तर इस 'लोके व्यवाया' आदिसे दिया गया है. व्यवायस्त्री संभोग अपिष मद्यसेवा–मांस मदिराका भक्षण. ये प्राणीमात्रकेलिए नित्य है अर्थात् इनकासेवन प्राणीमात्र अनुरागसे करता है इसलिए उसकेलिए वेदकी विधि नहीं है. अनजानी बातको बतानेमें शास्त्रको प्रमाण माना जाता है शंका होती है कि 'ऋतौ भार्यामुपेयात्' 'हुतशेषं भक्षमेत्' ऋतु कालमें स्त्री संग करे, हवनसे बचे हुएका भक्षण करे. ''सोत्रामण्यां सुराग्रहान् गृह्णाति'' सौत्रामण्य यज्ञमें मद्यसेवन करे. ऐसे विधि वाक्य हमें मिलते हैं और भी ''ऋतुस्नाना भार्याके पास जो नहीं जाता है उसे भयंकर भृणहत्याका पाप लगता है'' इसमें स्त्री संभोग न करने पर दोष लिखा है तो फिर कैसे माने कि स्त्री संभोगकी विधि नहीं है इसका उत्तर 'व्यवस्थिति...' इत्यादिसे दिया है. अर्थात् उक्त विधिके द्वारा स्त्रीसेवन, मद्यमांस भक्षणकी विवाह यज्ञ आदिमें व्यवस्थाकी गई है वास्तवमें तो व्यवाय, मद्य, मांसभक्षणकी निवृत्ति(त्याग) ही अभिष्ट है. जैसे यदि स्त्री संग करना चाहता है तो विवाहित स्त्रीसे कर सकता है अन्य स्त्रीसे नहीं, उसमें की ऋतुकालमें ही तथा रात्रिमें ही अन्य कालमें नहीं. इस कालमें भी षष्ठी, अष्टमी, पूर्णिमा, अमावस्या, द्वादशी(एकादशी)(?) चतुर्दशी आदि पर्व कालमें स्त्री संगका परित्याग करे. स्त्रीसंगका विधान भी केवल उसीकेलिए है जो अपने पिताके ऋण मुक्त होनकेलिए पुत्रकी इच्छा रखत है और जो कर्मनिष्ठ है गृहस्थी है. जो भक्त है या ज्ञानी है अथवा विरुक्त है उसके ऊपर कोई पितृऋण नहीं होता ''यदहरेवविरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्'' जिस दिन वैराग्य हो जाए उसी दिन संन्यासी हो जाए इससे यह स्पष्ट है कि भक्त, ज्ञानी, विरक्तकेलिए कोई ऋण नहीं है तथा संन्यास ग्रहण करनेकी विधि है. उसी तरह यज्ञमें ही मांसकासेवन करे

अन्यत्र नहीं. सौत्रामण्य यज्ञमें ही सुराका ग्रहण करें अन्यत्र नहीं।।११।।

धनं च धर्मैकफलं यतो वै ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्ति।
गृहेषु युञ्जन्ति कलेवरस्य मृत्युं न पश्यन्ति दुरन्तवीर्यम्।।१२।।

श्लोकार्थः धनका एकमात्र फल है धर्म; क्योंकि धर्मसे ही परमतत्त्वका ज्ञान और उसकी निष्ठा–अपरोक्ष अनुभूति सिद्ध होती है, और निष्ठामें ही परम शांति है. परन्तु यह कितने खेदकी बात है कि लोग उस धनका उपयोग घर गृहस्थीके स्वार्थोंमें या काम भोगमें ही करते हैं और यह नहीं देखते कि हमारा यह शरीर मृत्युका शिकार है और वह मृत्यु किसी प्रकार भी टाली नहीं जा सकती है।।१२।।

बा.प्र.: पहले यह कहा जा चुका है कि अज्ञ लोग व्यवाय(स्त्रीसंग) आदि मनोरथोंसे व्याकुल होकर वेदमें कही हुई बातको भी नहीं सुनते हैं. अब धर्मसे होनेवाले मोक्षके साधन भूत, धनका भी वे लोग प्रत्यक्ष दीखनेवाले लोगोंमें ही उपयोग करते हैं अतः उनका मोक्ष हो जाएगा यह आशा भी नहीं रही, इसी बातको 'धनं च' इस श्लोकसे कहते हैं. धर्म ही है एक मात्र फल जिसका ऐसे धनका उपयोग वे देह आदिकेलिए करते हैं. इसलिए वे अन्धे हैं. अन्धे वे इसलिए हैं कि जिसके बलका कोई प्रतीकार नहीं कर सकता उस मृत्युको वे नहीं देखते. अब यह जिज्ञासा होगी कि धर्मका फल क्या है तब ''यतो वै ज्ञानं सविज्ञानम् अनुप्रशान्तिः'' जिस निष्काम भगवान्की आराधनारूप धर्मसे अपरोक्ष ज्ञान सहित दृढ़ परोक्षज्ञान होता है. वह दृढ़ परोक्षज्ञान कैसा होता है उसका स्वरूप 'अनुप्रशान्तिः'से बताया है अर्थात् उस परोक्षज्ञानके होने पर ही जिसे मोक्ष कहा जाता है ऐसी प्रकृष्ट शांति होती है।।१२।।

यद् घ्राणभक्षो विहितः सुराया–स्तथा पशोरालभनं न हिंसा।
एवं व्यवायः प्रजया न रत्या इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम्।।१३।।

श्लोकार्थः सौत्रावणी यज्ञमें भी सुराको सूंघनेका ही विधान है, पीनेका नहीं. यज्ञमें पशु आलभन(स्पर्शमात्र) ही विहित है, हिंसा नहीं. इसी प्रकार अपनी धर्मपत्निके साथकी आज्ञा भी विषय भोगकेलिए नहीं धार्मिक परम्पराकी रक्षाके निमित्त संतान उत्पन्न करनकेलिए ही दी गई है. परन्तु जो अर्थवादके वचनोंमें फंसे हैं, विषयी है, वे अपने इस विशुद्धधर्मको जानते ही नहीं।।१३।।

बा.प्र.: ग्यारहवें श्लोकमें स्त्रीसंभोग आदिकी जो व्यवस्था की है

अर्थात् स्त्री संभोग, मद्यमांस भक्षणकी जो आज्ञा दी है उसे अपनी इच्छानुसार न समझे उनका आशय दूसरा ही है. सौत्रामणी यज्ञमें जो सुराका उपयोग बताया है उसका तात्पर्य सुराको केवल नाकसे सूंघना चाहिए न कि उसको पीना चाहिए. उसी तरह पशुका केवल मात्र स्पर्श ही करना चाहिए ऐसी विधि है, हिंसा कदापि न करें यहां यह समझे कि देवताके उद्देश लक्ष्यसे जो पशुहनन है उसका तात्पर्य स्पर्शकरना मात्र है जैसा कि 'वायव्यं श्वेतम् आलभेत' वायुकेलिए श्वेत अश्वका स्पर्श करे उसे हिंसा नहीं कहते. ऐसा वचन भी है कि ''वेद विहित हिंसा हिंसा नहीं है'' यज्ञमें भी जो खानेके लक्ष्यसे पशु हिंसा करते हैं वह तो लौकिकमें मांसभक्षणकेलिए की गई हिंसाके समान ही है. वेदमें तो आलभन(स्पर्श)मात्र ही कहा है, हिंसा नहीं कही है. अतः यथेष्ट मांसभक्षणकी वो आशा नहीं है. इसी प्रकार व्यवाय स्त्री संभोग भी सन्तोत्पत्तिकेलिए ही विहित है सुखभोगकेलिए नहीं. अतः अपनी इच्छानुसार मनमानी करनेवाले लोग इस विशुद्ध अपने धर्मको नहीं जानते।।१३।।

ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः।
पशून् द्रुह्यन्ति विस्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान् ।।१४।।

श्लोकार्थः जो इस विशुद्ध धर्मको नहीं जानते, वे घमण्डी वास्तवमें तो दुष्ट हैं, परन्तु समझते हैं अपनेको श्रेष्ठ, वे धोखेमें पड़े हुए लोग पशुओंकी हिंसा करते हैं और मरनेके बाद वे पशु ही उन मारनेवालोंको खाते हैं।।१४।।

बा.प्र.: इस प्रकार भगवद् विमुखोंके अनेक दोषोंका विस्तृत वर्णन किया अब उनके निश्चयका विवेचन 'ये त्वनेवंविदो' आदि पांच श्लोकोंसे करते हैं. जो लोग(बेसमझ) ऊपर बताए गए विशुद्धधर्मको नहीं जानते हैं वे 'अनेवंविदः'से लिए गए हैं. वे लोग दूसरोंसे भी नहीं पूछते क्योंकि स्तब्ध है, अनम्र है जिसमें नम्रता होती है वे तो किसीसे पूछ भी सकते हैं. हम तो सज्जन है समझदार हैं ऐसा उनमें अभिमान हैं अतः उनमें नम्रता या जिज्ञासा उत्पन्न ही कैसे होगी. उक्त सब बातोंका उदय उनके अन्तःकरणमें इसलिए नहीं होता है कि वे स्वयं असन्त है उनके अन्तःकरणमें पापका निवास है इसलिए ऐसा करनेसे हमारा मनोरथ पूर्ण हो जाएगा ऐसा उनमें विश्वास है अथवा पशुओंके द्वारा हमारा पोषण हो रहा है अतः निर्दयतासे पशुओंको मारते हैं तब वे ही मारे गए पशु उन मारनेवालोंके यमपुरमें पहुंचकर खाते हैं. जैसा कि समझदारोंने कहा है, जो मांस

भक्षी यहां जिनका मांस खाते हैं, परलोकमें उन्हीं मास भक्षण करनेवालोंका मांस वे खाते हैं जिनका मांस उनने खाया है।।१४।।

द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम्।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन् बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः।।१५।।

श्लोकार्थः यह शरीर मृतक शरीर है. इसके सम्बन्धी भी इसके साथ ही छूट जाते हैं. जो लोग इस शरीरसे तो प्रेमकी गांठ बांध लेते हैं और दूसरे शरीरोंमें रहनेवाले अपने ही आत्मा एवं सर्व शक्तिमान् भगवान्से द्वेष करते हैं, उन मूर्खोंका अधः पतन निश्चित है।।१५।।

बा.प्र.: जो मूर्ख अन्य शरीरोंमें स्थित जीवोंसे द्वेष करते हैं वे स्वयं अपनी आत्मासे ही द्वेष(द्रोह) करते हैं अतः उस दोषसे वे नरकमें गिरते हैं. क्योंकि जीव भगवान्के अंश हैं अतः उनसे द्वेष करना तो भगवान्से ही द्वेष करना होगा. जो ईश्वर(हरि)से द्वेष करेंगे वे नरकमें गिरेंगे ही. ऐसा वे क्यों करते हैं इसका हेतु है कि वे अपने पुत्र स्त्री आदिसे युक्त मृत(शव) प्रायः शरीरसे प्रेम करते हैं उसका खूब लालन, पालन करनेकी आसक्तिसे अन्य शरीरमें स्थित जीवोंसे द्वेष करते हैं।।१५।।

ये कैवल्यमसम्प्राप्ता ये चातीताश्च मूढताम्।
त्रैवर्गिका क्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते।। १६।।

श्लोकार्थः जिन लोगोंने आत्मज्ञान सम्पादन करके कैवल्य-मोक्ष नहीं प्राप्त किया है और जो पूरे-पूरे मूढ़ भी नहीं हैं, वे अधुरे न इधरके हैं, और न उधरके. वे धर्म, अर्थ, काम इन तीनों पुरुषार्थोंमें फंसे रहते हैं, एक क्षणकेलिए भी उन्हें शांति नहीं मिलती. वे अपने हाथों अपने पैरोंमें कुल्हाड़ी मार रहे हैं. ऐसे ही लोगोंको आत्मघाती कहते हैं।।१६।।

बा.प्र.: जो सर्वथा बेसमझ होते हैं वे तत्त्वज्ञानियों की कृपासे संसारसे तिर जाते हैं और जो तत्त्वज्ञानी होते हैं वे स्वतः ही संसारसे मुक्त हो जाते हैं किन्तु जो तत्त्वज्ञानसे अनभिज्ञ हैं और जो न तो मूर्ख ही हैं और न समझदार ही हैं किन्तु अपनेको समझदार माननेवाले और नम्रतासे रहित हैं अतः उन्हें श्रवण आदिका अवसर ही नहीं मिलता श्रवणादिका अवसर न मिलनेका कारण यह है कि वे सदा धर्म, अर्थ, काममें ही फंसे रहते हैं ऐसे लोग अपनी आत्माका घात करते हैं नरकादिमें पातित करनेका साधन करते हैं ऐसा प्रसिद्ध है यह 'हि' शब्दसे सूचित

किया है।।१६।।

एत आत्महनोऽशान्ता अज्ञाने ज्ञानमानिनः।
सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनोरथाः।। १७।।

श्लोकार्थः अज्ञानको ही ज्ञान माननेवाले इन आत्मघातियोंको कभी शांति नहीं मिलती, इनके कर्मोंकी परम्परा कभी शांत नहीं होती. काल भगवान् सदा सर्वदा इनके मनोरथों पर पानी फेरते रहते हैं. इनके हृदयकी जलन विषाद कभी मिटनेका नहीं।।१७।।

बा.प्र.: सोलहवें श्लोकमें कही हुई बातको पुनः स्पष्ट करते हैं 'आत्महनः' का आशय है स्वयंके(अपने) ही ये शत्रु हैं, काल जब इनके मनोरथोंको नष्ट कर देता है तो ये नरक आदिमें अत्यन्त दुःखी होते ही हैं. यहां 'वै' एवं(ही)के अर्थमें है. वे आत्मघाती इसलिए है कि उन्होंने श्रवणादि साधन जो अपना कार्य है उसे नहीं किया, नहीं करनेमें हेतु है ''अज्ञाने ज्ञान मानिनः'' लौकिक एवं अलौकिक सुखोंके उपायकी कल्पनामें ही अपनेको समझदार मानते हैं ऐसे भ्रान्त अशांत राग, लोभ आदिसे व्याप्त चित्तवाले होते हैं इसी बातको श्रुति भी बताती है 'जो आत्मघाती होते हैं वे मरने पर अन्य नामके नरकमें गिरते हैं।।१७।।

हित्वात्यायासरचिता गृहापत्यसुहृच्छ्रियः।
तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखाः।। १८।।

श्लोकार्थः राजन्! जो लोग अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णसे विमुख हैं, वे अत्यन्त परिश्रम करते गृह, पुत्र, मित्र और धन-सम्पत्ति इकट्ठी करते हैं; परन्तु उन्हें अन्तमें सब कुछ छोड़ देना पड़ता है और न चाहने पर भी विवश होकर घोर नरकमें जाना पड़ता है.(भगवान्का भजन न करनेवाले विषयी पुरुषोंकी यही गति होती है)।।१८।।

बा.प्र.: हरि विमुखोंको क्या फल प्राप्त होता है इस प्रश्नका अब उपसंहार करते हैं. भगवद्विमुख मनुष्य जिन्होंने कठोर परिश्रमसे गृह, सुत, मित्र और लक्ष्मीका संपादन किया था उन्हें छोड़नेकी इच्छा न होते हुए भी छोड़कर तथा नरकमें गिरना नहीं चाहते हुए उसमें पडते हैं।।१८।।

राजोवाच

कस्मिन् काले स भगवान् किं वर्णः कीदृशो नृभिः।
नाम्ना वा केन विधिना पूज्यते तदिहोच्यताम्।।१९।।

श्लोकार्थः राजानिमिने पूछा योगेश्वरों! आप लोग कृपा करके यह बतलाइए कि भगवान् किस समय, किस रंगका, कौनसा आकार स्वीकार करते हैं और मनुष्य किन नामों और विधियोंसे उनकी उपासना करते हैं।।१९।।

बा.प्र.: भगवान्की आराधनाका प्रकार विशेष पूछता है भगवान् किस समय, किस रंगका और कैसे आकारका होता है. किस नामसे और किस विधिसे मनुष्योंके द्वारा पूजा जाता है यह हमारे सामने कहिये।।१९।।

करभाजन उवाच

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः।
नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते।।२०।।

श्लोकार्थः योगेश्वर करभाजनजीने कहा राजन्! चार युग हैं, सत्य, त्रेता, द्वापर, और कलि. इन युगोमें भगवान्के अनेको रंग नाम और आकृतियां होती है तथा विभिन्न विधियोंसे उनकी पूजाकी जाती है।।२०।।

बा.प्र.: सत्ययुग आदि चार युग होते हैं. भगवान् इन सत्ययुग आदि कालमें अनेक प्रकारके वर्ण, नाम और आकारसे तथा अनेक विधियों(प्रकारों)से पूजे जाते हैं।।२०।।

कृते शुक्लचतुर्बाहुर्जटिलो वल्कलाम्बरः।
कृष्णाजिनोपवीताक्षान् विभ्रद् दण्डकमण्डलू।।२१।

श्लोकार्थः सत्ययुगमें भगवान्के श्रीविग्रहका रंग होता है श्वेत. उनके चार भुजाएं और सिर पर जटा होती है, तथा वे वल्कलका ही वस्त्र पहनते हैं. काले मृगका चर्म, यज्ञोपवित, रुद्राक्षकी माला, दण्ड और कमण्डलु धारण करते हैं।।२१।।

बा.प्र.: बीसवें श्लोकमें बताए गए रंग आदिका स्पष्टीकरण करते हैं. सत्ययुगमें कृष्णमृग चर्म आदिको धारण करते हैं इससे सत्ययुगमें भगवान् ब्रह्मचारी वेशमें रहते हैं।।२१।।

मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्वैराः सुहृदः समाः।
यजन्ति तपसा देवं शमेन च दमेन च।। २२।।

श्लोकार्थः सत्ययुगके मनुष्य बड़े शांत, परस्पर वैर रहित, सबके हितैषी और समदर्शी होते हैं. वे लोग इन्द्रियों और मनको वशमें रखकर ध्यानरूप तपस्याके द्वारा सबके प्रकाशक परमात्माकी आराधना करते हैं।।२२।।

बा.प्र.: तब सत्ययुगमें भगवान्‌की आराधना करनेवाले पुरुष सर्वत्र सुख दुःखमें समान दृष्टि रखते हैं. समान दृष्टि रखनेके कारण बैर रहित होना वे किसीसे बैर नहीं रखते. निर्वैर होनेका कारण उनमें शांति है राग, लोभ आदि दोष उनमें नहीं है दुःखका हेतु जो राग आदि हैं वे उनमें नहीं है अतः सुखी है, सुखी इसलिए हैं कि वे सबके हितैषी है, बाह्य इन्द्रियोंका निग्रह करके ध्यानयोगरूप तपसे भगवान्‌की आराधना करते हैं।।२२।।

हंसः सुपर्णो वैकुण्ठो धर्मो योगेश्वरोऽमलः।
ईश्वरः पुरुषोऽव्यक्तः परमात्मेति गीयते।। २३।।

श्लोकार्थ: वे लोग हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर, अमल, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त और परमात्मा आदि नामोंके द्वारा भगवान्‌के गुण, लीला आदिका गान करते हैं।।२३।।

बा.प्र.: सत्ययुगमें भगवान्‌का हंस आदि नामोंसे व्यवहार होता है।।२३।।

त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः।
हिरण्यकेशत्रय्यात्मा स्रुक्सुवाद्युपलक्षणः।।२४।।

श्लोकार्थ: राजन्! त्रेतायुगमें भगवान्‌के श्रीविग्रहका रंग होता है लाल. चार भुजाऐं होती हैं आर कटिभागमें वे तीन मेखला धारण करते हैं. उनके केश सुनहले होते हैं और वे वेद प्रतिपादित यक्षरूपमें रहकर स्रुक्, स्रुवा आदि यज्ञ पात्रोंको धारण किया करते हैं।।२४।।

बा.प्र.: त्रेतामें ये भगवान् लाल वर्ण होते हैं, चार भुजाऐं होती है दीक्षाकी अंगभूत तीन मेखला कटि भागमें धारण करते हैं. पीले केश होते हैं. ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, इन तीनों वेदोंसे प्रतिपादित जिनकी आत्मा(मूर्ति) है. स्रुक्, स्रुवा, आदि चिह्न उनके होते हैं।।२४।।

तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिम्।।
यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनः।।२५।।

श्लोकार्थ: उस युगके मनुष्य अपने धर्ममें बड़ी निष्ठा रखनेवाले और वेदोंके अध्ययन, अध्यापनमें बड़े प्रवीण होते हैं. वे लोग ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदरूप वेदत्रयीके द्वारा सर्वदेवस्वरूप देवाधिदेव भगवान् श्रीहरिकी आराधना करते हैं।।२५।।

बा.प्र.: तब त्रेतायुगमें ब्रह्मवादी अर्थात् वेदोक्त अर्थके जाननेवाले मनुष्य इन्द्र आदि सब देवताओंके अन्तर्यामी मुख्य देव हरिका वेदत्रयीमें कथित कर्म समर्पणसे उनका भजन करते हैं आराधना करते हैं।।२५।।

विष्णुर्यज्ञः पृश्निगर्भः सर्वदेव उरुक्रमः।
वृषाकपिर्जयन्तश्च उरुगाय इतीर्यते।। २६।।

श्लोकार्थः त्रेतायुगमें अधिकांश लोक विष्णु, यज्ञ पृष्णिगर्भ, सर्वदेव, उरुक्रम, वृषाकपि, जयन्त और उरुगाय आदि नामोंसे उनके गुण और लीला आदिका कीर्तन करते हैं।।२६।।

बा.प्र.: तब त्रेतायुगमें व्यापक होनेके कारण भगवान्को विष्णु कहते हैं. यज्ञके अधिष्ठाता होनेके कारण उन्हें यज्ञ कहते हैं. पृश्निके पुत्र होनेके कारण पृश्नि गर्भ, सब देवताओंके अधिष्ठाता होनेके कारण सर्वदेव, अनेक प्रकारकी लीला करनेके कारण उरुक्रम, भक्तोंकी जो कामनाऐं होती हैं उनकी वर्षा करनेके कारण वृष, और उनके क्लेशोंका आकंपन विनाश करनेके कारण आकपि, इस तरह वृष और आकपि, सर्वदा उनकी विजय ही होती है अतः जयन्त और उनकी विजयका ही सर्वत्र गान(वर्णन) होता है अतः वे उरुगाय भी कहे जाते हैं।।२६।।

द्वापरे भगवाञ्छ्यामः पीतवासा निजायुधः।
श्रीवत्सादिभिरङ्कुश्च लक्षणैरुपलक्षितः।।२७।।

श्लोकार्थः राजन्! द्वापरयुगमें भगवान्के श्रीविग्रहका रंग होता है सांवला. वे पीताम्बर तथा शंख, चक्र, गदा आदि अपने आयुध धारण करते हैं. वक्षःस्थल पर श्रीवत्सका चिह्न, भृगुलता, कौस्तुभ, मणि आदि लक्षणोंसे वे पहचाने जाते हैं।।२७।।

बा.प्र.: द्वापरमें भगवान् अलसीके पुष्पके समान श्यामवर्ण होते हैं और पिताम्बरको धारण करते हैं. अपने सुदर्शनचक्र आदि आयुध भी उस समय उनके पास रहते हैं. श्रीवत्स नामवाला जो वक्षः स्थल पर दाहिने भागमें बालोंका जो प्रदक्षिणावर्त्त है वह तथा श्रीहस्त श्रीचरणमें कमलका चिह्न तथा कौस्तुभमणि आदि जो बाह्यचिह्न हैं उनसे भी उपलक्षित पहचाने जाते हैं।।२७।।

तं तदा पुरुषं मर्त्या महाराजोपलक्षणम्।
यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप।।२८।।

श्लोकार्थः राजन! उस समय जिज्ञासु मनुष्य महाराजोंके चिह्न छत्र,

चंवर आदिसे युक्त परमपुरुष भगवान्‌की वैदिक और तांत्रिक विधिसे आराधना करते हैं।।२८।।

बा.प्र.: उस समय हे राजन्! जिज्ञासु जो तत्त्वज्ञानकी इच्छा रखते हैं वे मनुष्य महाराजके चिह्न जो छत्र, चंवर आदि हैं उनसे युक्त भगवान्‌की वैदिक प्रकारसे और तंत्रोक्त प्रकारसे आराधना करते हैं।।२८।।

नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः।।२९।।
नारायणाय ऋषये पुरुषाय महात्मने।
विश्वेश्वराय विश्वाय सर्वभूतात्मने नमः।।३०।।

श्लोकार्थ: वे लोग इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति करते हैं हे ज्ञानस्वरूप भगवान् वासुदेव, एवं क्रियाशक्तिरूप संकर्षण! हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं. भगवान् प्रद्युम्न और अनिरुद्धके रूपमें हम आपको नमस्कार करते हैं. ऋषि नारायण, महात्मा नर, विश्वेश्वर, विश्वरूप और सर्वभूतात्मा भगवान्‌को हम नमस्कार करते हैं।।२९।।३०।।

बा.प्र.: नामोंको दिखाते हुए नमस्ते आदि दो श्लोकोंसे स्तुतिका प्रकार कहते हैं।।२९।।३०।।

इति द्वापर उर्वीश स्तुवन्ति जगदीश्वरम्।
नानातन्त्रविधानेन कलावपि यथा शृणु।। ३१।।

श्लोकार्थ: राजन्! द्वापरयुगमें इस प्रकार लोग जगदीश्वर भगवान्‌की स्तुति करते हैं. अब कलियुगमें अनेक तंत्रोके विधि, विधानसे भगवान्‌की जैसी पूजाकी जाती है, उसका वर्णन सुनो।।३१।।

बा.प्र.: हे राजन्! इस प्रकार द्वापरमें जगदीश्वरकी स्तुति करते हैं, कलियुगमें भी नानातंत्रोके प्रकारसे उनका पूजन करते हैं उसे सूनो।।३१।।

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः।।३२।।

श्लोकार्थ: कलियुगमें भगवान्‌का श्रीविग्रह होता है कृष्णवर्ण काले रंगका. जैसे नीलम मणिमेंसे उज्जवल कांतिधारा निकलती रहती है, वैसे ही उनमें अंगकी छटा भी उज्जवल होती है. वे हृदय आदि अंग, कौस्तुभ आदि उपांग, सुदर्शन आदि अस्त्र और सुनन्द प्रभृति पार्षदोंसे संयुक्त रहते हैं. कलियुगमें श्रेष्ठ

बुद्धि सम्पन्न पुरुष ऐसे यज्ञोंके द्वारा उनकी आराधना करते हैं, जिनमें नाम, गुण, लीला आदिके कीर्तनकी प्रधानता रहती है।।३२।।

बा.प्र.: रूखेपनका निषेध 'त्विषाऽकृष्णम्' पदसे करते हैं कांतिसे अकृष्ण हैं अर्थात् इन्द्रनीलमणिके समान उज्जवल(चमकीले) हैं. हृदय आदि अकोंसे, कौस्तुभ आदि उपांगोसे, सुदर्शन आदि अस्त्रोंसे, सुनन्द आदि पार्षदोंसे युक्त हैं. 'संकीर्तन प्रायैः' अर्थात् कीर्तन, नामोच्चारण और स्तुति ये जिनमें मुख्य हैं ऐसे यज्ञोंसे विवेकी पुरुष भगवान्की आराधना करते हैं ऐसा प्रसिद्ध है।।३२।।

ध्येयं सदा परिभवनमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्।।३३।।

श्लोकार्थ: वे लोग भगवान्की स्तुति इस प्रकार करते हैं 'प्रभो!' आप शरणागत रक्षक हैं. आपके चरणारविन्द सदा-सर्वदा ध्यान करने योग्य, माया मोहके कारण होनेवाले सांसारित पराजयोंका अंत कर देनेवाले तथा भक्तोंकी समस्त अभिष्ट वस्तुओंका दान करनेवाले कामधेनुस्वरूप हैं. वे तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाले स्वयं परम तीर्थस्वरूप हैं, शिव, ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता उन्हें नमस्कार करते हैं. और चाहे जो कोई उनकी शरणमें आ जाए. उसे स्वीकार कर लेते हैं.सेवकोंकी समस्त आर्ति और विपत्तिके नाशक तथा संसार सागरसे पार जानकेलिए जहाज हैं. महापुरुष! मैं आपके उन्हीं चरणारविन्दोंकी वन्दना करता हूं।।३३।।

बा.प्र.: ध्येयं आदि दो श्लोकोंसे कीर्तनका प्रकार दिख लाते हैं. हे प्रणतपाल! हे भक्तरक्षक! भक्तोंकी रक्षा करनेमें आप समर्थ हैं इसे हे महापुरुष! इस सम्बोधनसे सूचित किया है. आपके चरणारविन्दको मैं सदा प्रणाम करता हूं. सदाका सम्बन्ध सबके साथ करना चाहिए जैसे आपके चरणारविन्द सदा ध्यान करने योग्य हैं क्योंकि वे सर्वदा कुटुम्बियों तथा इन्द्रिय आदिसे होनेवाले पराभव(तिरस्कार)को सर्वदा नष्ट करते हैं. और सर्वदा भक्तोंके मनोरथोंको पूर्ण करते हैं. गंगा आदि तीर्थ भी आपके चरणका आश्रय(सहारा) लेनेसे ही सदा सर्वोत्कृष्टरूपसे पवित्र करनेवाले हैं. इसलिए तो आपके चरणकी शिव और ब्रह्मा स्तुति करते हैं. दूसरा कारण यह भी है कि आपके चरण शरण ग्रहण करनेवालेके आश्रम भी है. शंका हो सकती है कि जो शिव और ब्रह्माकेलिए भी दुर्लभ है वे साधारणके उपर अनुग्रह कैसे करेंगे ? उसका निवारण 'भृत्यार्तिहर'से किया है जो

कोई भी भृत्य(सेवक) होगा उसकी पीड़ाका वे सदा हरण करेंगे. केवल आगन्तुक पीड़ाका ही हरण नहीं करेंगे किन्तु अनादि जो परम्परागत संसार दुःखरूप जो समुद्र है उससे भी पार करेंगे संसार समुद्रसे पार करनेमें आपके चरण जलयान(जहाज) हैं।।३३।।

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद् वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्।।३४।।

श्लोकार्थः भगवान्! आपके चरणकमलोंकी महिमा कौन कहे? रामावतारमें अपने पिता दशरथजीके वचनोंसे देवताओंकेलिए भी वाञ्छनीय और दुस्त्यज राज्यलक्ष्मीको छोड़कर आपके चरण कमल वन-वन घूमते फिरे, सचमुच आप धर्मनिष्ठताकी सीमा है और महापुरुष! अपनी प्रेयसी सीताजीके चाहने पर जान बूझकर आपके चरणकमल मायामृगके पीछे दौहते रहे. सचमुच आप प्रेमकी सीमा हैं. प्रभो! मैं आपके उन्हीं चरणारविन्दों की वन्दना करता हूं।।३४।।

बा.प्र.: इस प्रकार श्रीकृष्णकी स्तुतिका निरूपण करके अब इस श्लोकमें रामकी स्तुति करते हैं. हे महापुरुष! दूसरे जिसको छोड़ नहीं सकते और जिस राज्य सम्पत्तिको देवता भी चाहते हैं उस राज्य सम्पत्तिको छोड़कर आर्य जो दशरथ पिता उनके वचनसे जंगलमें गए. यदि किसी दोषके कारण पिता वनमें निकाल देता तो राम भजन(आदर पाने)के योग्य नहीं रहते अतः उस शंकाके करनकेलिए रामकेलिए 'धर्मिष्ठ' ऐसा पद दिया. राम तो धर्ममार्गमें स्थित थे पिताने जो कैकयीसे प्रतिज्ञा की थी उसे सत्य करनकेलिए ही गए थे. और इस प्रकारके राज्यको छोड़कर भी भक्तवत्सल होनेके कारण अपनी प्रियतमा सीताके चाहे हुए मायामृगके पीछे जो कि कपटसे सोनेका मृग बना था. उस मारीचके पीछे दौड़नेवाले आपके चरणारविन्दको मैं प्रणाम करता हूं. अथवा 'धर्मिष्ठ' यह भी सम्बोधन है संधि न करनेकी इच्छाके कारण आर्य पदके साथ इसकी संधि नहीं हुई. उपर्युक्तका तात्पर्य यह हुआ कि जो चरणारविन्द वनमें गए तथा जो चरणारविन्द मायामृग(मारीच)के पीछे दौड़े आपके उन चरणारविन्दको मैं प्रणाम करता हूं और सबकी संगति पूर्ववत् ही समझनी।।३४।।

एवं युगानुरूपाभ्यां भगवान् युगवर्तिभिः।
मनुजैरिज्यते राजन् श्रेयसामीश्वरो हरिः।।३५।।

श्लोकार्थ: राजन्! इस प्रकार विभिन्न युगोंके लोग अपने-अपने युगके अनुरूप नाम-रूपों द्वारा विभिन्न प्रकारसे भगवान्‌की आराधना करते हैं. इसमें सन्देह नहीं कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभी पुरुषार्थोंके एकमात्र स्वामी भगवान् श्रीहरि ही है।।३५।।

बा.प्र.: 'युगानुरूपाभ्यां' इसके साथ 'नामरूपाभ्यां' ऐसा कहना रह गया है अतः यहां युगके अनुरूप नामरूपसे ऐसा अर्थ समझ लेना चाहिए चारों प्रकारके पुरुषार्थोंके स्वामी(देनेवाले) भगवान्‌की आराधना करते हैं।।३५।।

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।
यत्र सङ्कीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते।।३६।।

श्लोकार्थ: कलियुगमें केवल संकीर्तनसे ही सारे स्वार्थ और परमार्थ बन जाते हैं. इसलिए इस युगका गुण जाननेवाले सारग्राही श्रेष्ठ पुरुष कलियुगकी बड़ी प्रशंसा करते हैं, इससे बड़ा प्रेम करते हैं।।३६।।

बा.प्र.: इन चारों युगोंमें कलियुग ही श्रेष्ठ है अतः 'कलि' यह पद दिया. जो कलियुगके गुणोंको जानते हैं वे आर्य श्रेष्ठ, वृद्ध, विवेकी कलियुगकी ही प्रशंसा करते हैं. शंका होती है कि कलियुगमें तो बहुतसे दोष हैं फिर उसकी प्रशंसा क्यों करते हैं इसका उत्तर देते हैं कि जो सारग्राही है अर्थात् केवल गुणको ही ग्रहण करनेवाले हैं वे इसकी प्रशंसा करते हैं. तब सहज ही यह प्रश्न उठता है कि वह गुण क्या है तो इसका उत्तर देते हैं, जिस कलियुगमें भगवान्‌के नामके संकीर्तन मात्रसे ही सब मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं तब उसकी प्रशंसा करना उचित ही है. स्मृतिमें भी इसका निरूपण है ''सत्युगमें ध्यानके द्वारा, त्रेतामें यज्ञके द्वारा, द्वापरमें अर्चना(पूजा)के द्वारा जो फल प्राप्त होता है वह कलियुगमें भगवान् (केशव)के संकीर्तनसे ही प्राप्त होता है.'' तात्पर्य यह है कि भगवान्‌के संकीर्तन मात्रसे ही कलियुगमें पुरुषार्थ सिद्धि होती है ऐसा महान् गुण इसमें हैं अतः एव गुणी लोग इसकी प्रशंसा करते हैं।।३६।।

नातः परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह।
यतो विन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृतिः।।३७।।

श्लोकार्थ: देहाभिमानी जीव संसारचक्रमें अनादि कालसे भटक रहे हैं. उनके लिए भगवान्‌की लीला, गुण और नामके कीर्तनसे बढ़कर और कोई परम लाभ नहीं है; क्योंकि इससे संसारमें भटकना मिट जाता है और परम शांतिका

अनुभव होता है।।३७।।

बा.प्र.: क्योंकि कलियुगमें भगवन्नामका संकीर्तन ही इच्छित पुरुषार्थका साधन है इसलिए इस संसारमें चक्कर काटनेवाले देहधारियोंकेलिए भगवन्नाम संकीर्तनके अतिरिक्त दूसरा परम लाभ कोई नहीं है अर्थात् पुरुषार्थका साधन कोई नहीं है. 'नहि' यहांका 'हि' अवधारणार्थक है क्योंकि नाम संकीर्तनसे ही बिना प्राणवियोगके(जीवित अवस्थामें ही) परम मुक्तिरूपा शांतिको प्राणी प्राप्त कर लेता है. और जन्ममरणके दुःखरूप संसारका नाश हो जाता है।।३७।।

कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम्।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः।। ३८।।
क्वचित क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः।
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी।। ३९।।
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी।
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर।
प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः।। ४०।।

श्लोकार्थ: राजन्! सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रजा चाहती है कि हमारा जन्म कलियुगमें हो; क्योंकि कलियुगमें कहीं-कहीं भगवान्नारायणके शरणागत उन्हींके आश्रममें रहनेवाले बहुतसे भक्त उत्पन्न होंगे. महाराज वितेह! कलियुगमें द्रविड़देशमें अधिक भक्त पाए जाते हैं; जहां ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, परम पवित्र कावेरी, महानदी, और प्रतीची नामकी नदीयां बहती हैं. राजन्! जो मनुष्य इन नदीयोंका जल पीते हैं. प्रायः उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वे भगवान् वासुदेवके भक्त हो जाते हैं।।३८-४०।।

बा.प्र.: क्योंकि कलियुगमें मुक्तिका उपाय सहज है इसलिए सत्ययुग आदि तीन युगोंकी प्रजा कलियुगमें जन्म लेना चाहती है. उस इच्छामें उनका निश्चय है इसको 'कलौ' पदसे दिखाया है. कलियुगमें निश्चय ही भगवान् नारायण ही जिनका सर्वश्रेष्ठ आश्रय है ऐसी प्रजा उत्पन्न होगी हम भी उसी तरहके होंगे तो कृतार्थ हो जाऐंगे इस आशासे जन्म लेना चाहते हैं. देश विदेश भी भक्त होनेमें कारण होते हैं. उनका निर्देश दो श्लोकोंमें किया जाता है. हे महाराज! कहीं-कहीं कोई-कोई और द्रविड़ आदि देशोंमें बहुत सी ताम्रपर्णी आदि नदीयां हैं. हे मनुजेश्वर! जो मनुष्य उन नदियोंका जल पीते हैं उनमें स्नान

करते हैं उनका अन्तः करण निर्मल हो जाता है जिससे वे वासुदेव भगवान्के भक्त हो जाते हैं. हो सकता है किन्हीं के प्रतिबन्धक या पाप अधिक हो उनमें शीघ्र भक्ति नहीं देखी जाती. इसलिए मूलमें 'प्रायः' पद दिया है।।३८-४०।।

देवर्षिभूताप्तनृणां पितणां न किङ्करो नायमृणीच राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्।। ४१।।

श्लोकार्थः राजन्! जो मनुष्य, ''यह करना बाकी है, वह करना आवश्यक है'' इत्यादि कर्मवासनाओंका अथवा भेदबुद्धिका परित्याग करके सर्वात्मभावसे शरणागत वत्सल, प्रेमके वरदानी भगवान् मुकुन्दकी शरणमें आ गया है, वह देवताओं ऋषियों, पितरों, प्राणियों, कुटुम्बियों और अतिथियोंके ऋणसे उऋण हो जाते है, वह किसीके अधीन, किसीका सेवक, किसीके बंधनमें नहीं रहता।।४१।।

बा.प्र.: भक्तिका फल क्या है? इसके विषयमें कहते हैं वचनकी नकेल(पशुको काबूमें करनकेलिए नाकमें डाली जानेवाली रस्सी)का बंधन छूट जानेसे वह कृतार्थ हो जाता है इसको 'देवर्षि' आदि पदसे बताया है. तू भी बंधनसे मुक्त हो जानेके कारण स्वतन्त्र हो गया है यह 'राजन्' इस सम्बोधनसे बताया है. जो मनुष्य अपने कर्त्तापनके अहंकारको छोड़कर संसारके भयसे मुक्त करनेवाले शरण्य, शरणागतवत्सल भगवान् मुकुन्द जो मुक्ति देनेवाले हैं उन भगवान्की सर्वात्मभावसे जो शरण ग्रहण करता है वह देवता, ऋषि, पितर आदि किसीका किंकरसेवक नहीं रहता उनकेलिए पञ्चयज्ञ करनेके बंधनमें वह नहीं रहता. पञ्चयज्ञोंकेकिये बिना देवता आदिके ऋणसे मुक्ति उसे कैसे मिलेगी. ऐसी आशंका करके उसका उत्तर देते हैं कि जो ज्ञान और भक्तिसे हीन होते हैं वे लोग ही देवता आदिके ऋणी होते हैं अतः वे उनकेलिए किंकर होते हैं।।४१।।

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः।। ४२।।

श्लोकार्थः जो प्रेमीभक्त अपने प्रियतम भगवान्के चरणकमलोंका अनन्यभावसे दूसरी भावनाओं, आस्थाओं, वृत्तियों, और प्रवृत्तियोंको छोड़कर भजन करता है, उससे, पहली बात तो यह है कि पापकर्म होते ही नहीं, परन्तु यदि कभी किसी प्रकार हो भी जाए तो परमपुरुष भगवान् श्रीहरि उसके हृदयमें बैठकर सब धो-बहा देते और उसके हृदयको शुद्ध कर देते हैं।।४२।।

बा.प्र.: यदि ऐसा मान लें कि भगवान्का भक्त विधिके आधीन नहीं है, परन्तु प्रमाद(असावधानी)से निषिद्धाचरण अवश्य बन सकता है तो उसका प्रायश्चित तो करना ही होगा. उसका उत्तर यह है कि भगवान्का प्यारा भक्त भगवान्से अतिरिक्त देह आदिमें तथा अन्य देवतामें कभी भाव नहीं रखता अतः भगवान् अपने चरणारविन्दका ध्यानार्चनके द्वारा सेवन करनेवाले पुरुषका जिसकी कभी निषिद्धाचरणमें प्रवृत्ति ही सम्भव नहीं है तथापि किसी तरह असावधानीसे विकर्म(पाप) बन जाए तो उसको भी हृदयमें विराजमान वे भगवान्(उस पापको) नष्ट कर देते हैं उसकेलिए अन्य प्रायश्चितकी अपेक्षा नहीं है. भगवान् तो परेश हैं ईश्वरके भी ईश्वर हैं इसलिए प्रिय भक्तके पाप नाशनका उनमें सामर्थ्य है. कदाचित् ऐसी आशंका हो कि श्रुति स्मृति तो भगवान्की आज्ञारूप हैं इसलिए भगवान्की उस आज्ञाको मानना भगवान् कैसे सह सकते हैं अर्थात् भक्त यदि पापका प्रायश्चित न करेगा तो आज्ञा भंग होनेसे भगवान् उससे अप्रसन्न हो जाऐंगे. इसका उत्तर तो 'प्रियस्य' इस पदके द्वारा ही हो जाता है जो अपना प्रिय होता है उस पर कभी कोई अप्रसन्न नहीं होता।।४२।।

नारद उवाच

धर्मान् भागवतान् इत्थं श्रुत्वाथ मिथिलेश्वरः।
जायन्ते यान् मुनीन् प्रीतः सोपाध्यायो ह्यपूजयत्।।४३।।

श्लोकार्थ: नारदजी कहते हैं, वसुदेवजी! मिथिलानरेश राजा निमि नौ योगीश्वरोंसे इस प्रकार भागवद्धर्मोंका वर्णन सुनकर बहुत ही आनन्दित हुए. उन्होंने अपने ऋत्विज और आचार्योंके साथ ऋषभनन्दन नौ योगेश्वरोंकी पूजा की।।४३।।

बा.प्र.: मिथिलेश्वर निमिने जयन्तीके पुत्रोंकी पूजा की।।४३।।

ततोऽन्तर्दधिरे सिद्धाः सर्वलोकस्य पश्यतः।
राजा धर्मानुपातिष्ठन्नवाप परमां गतिम्।।४४।।

श्लोकार्थ: इसके बाद सब लोगोंके सामने ही वे सिद्ध अन्तर्ध्यान हो गए. विदेहराज निमिने उनसे सुने हुए भागवत धर्मोंका आचरण किया और परमगति प्राप्त की।।४४।।

बा.प्र.: सिद्धसे कवि आदि सिद्ध. उपातिष्ठन् आचरण करनेसे ।।४४।।

त्वमप्येतान् महाभाग धर्मान् भागवताञ्छुतान्।
आस्थितः श्रद्धया युक्तो निःसङ्गो यास्यसे परम्।। ४५।।

श्लोकार्थः महाभाग्यवान् वसुदेवजी, मैंने तुम्हारे आगे जिन भागवत धर्मोंका वर्णन किया है, तुम भी यदि श्रद्धाके साथ इनका आचरण करोगे तो अंतमें सब आसक्तियोंसे छूटकर भगवान्का परमपद प्राप्त कर लोगे।।४५।।

बा.प्र.: भगवान् कृष्णके पिता होनेके कारण आप कृतार्थ हैं इसको 'महाभाग' इस सम्बोधनसे बताया है. निष्काम होकर श्रद्धासे युक्त मेरे द्वारा सुने गए इन भागवतधर्मोंका आचरण करनेसे तुम भी परमपद प्राप्त करोगे।।४५।।

युवयोः खलु दम्पत्योर्यशसा पूरितं जगत्।
पुत्रतामगमद् यद् वां भगवान्ीश्वरो हरिः।। ४६।।

श्लोकार्थः वसुदेवजी! तुम्हारे और देवकीके यशसे तो सारा जगत् भरपूर हो रहा है; क्योंकि सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारे पुत्रके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं।।४६।।

बा.प्र.: शास्त्रकी दृष्टिसे ऐसा आपके लिए कहा गया है. आप दोनों तो वास्तवमें कृतार्थ हैं ही यह 'युवयोः' पदसे सुचित है. अर्थात् आपसे ऐश्वर्य आदि छः गुणोंसे पूर्ण ईश्वर आपके पुत्र बने।।४६।।

दर्शनालिङ्गनालापैः शैयनासनभोजनैः।
आत्मा वां पावितः कृष्णे पुत्रस्नेहं प्रकुर्वतोः।।४७।।

श्लोकार्थः तुमलोगोंने भगवान्के दर्शन, आलिंगन तथा बातचीत करने एवं उन्हें सुलाने, बैठाने, आदिके द्वारा वात्सल्य स्नेह करके अपना हृदय शुद्ध कर लिया है, तुम परम पवित्र हो गए हो।।४७।।

बा.प्र.: कृष्णमें यह मेरा पुत्र है इस प्रकारका संदेह करनेवाले तुम दोनों पति-पत्निने उनके दर्शन, आलिंगन आदिसे अपनी आत्माको शुद्ध कर लिया है. भगवत्प्राप्तिमें जो प्रतिबन्धक दोष हैं उनको दूर करनेसे अपनी आत्माको भगवत्प्राप्तिके योग्य कर लिया. इसलिए अन्य लोगोंकी तरह तुम दोनोंको अपने हृदयको शुद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है।।४७।।

वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्र-शाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः।
ध्यायन्त आकृतधियः शयनासनादौ तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम्।। ४८।।

श्लोकार्थः वसुदेवजी! शिशुपाल, पौण्ड्रक और शाल्व आदि राजाओंने

तो वैरभावसे श्रीकृष्णकी चाल-ढाल, लीला-विलास, चितवन, बोलन आदिका स्मरण किया था. वह भी नियमानुसार नहीं, सोते, बैठते, चलते, फिरते, स्वाभाविक रूपसे ही. फिर भी उनकी चित्तवृत्ति श्रीकृष्णाकार हो गई और वे सारूप्य मुक्तिके अधिकारी हुए. फिर जो लोग प्रेमभाव और अनुरागसे श्रीकृष्णका चिंतन करते हैं, उन्हें श्रीकृष्णप्राप्ति होनेमें कोई सन्देह है क्या? ।।४८।।

बा.प्र.: पुत्र आदिमें स्नेह करनेसे तो बंधन होता है फिर पुत्र स्नेहसे वसुदेवकी मुक्ति कैसे हुई? यही तो विषयकी विलक्षणता है इसे कैमुतिक न्यायसे बताते हैं. वैरसे उन भगवान् कृष्णके गति, विलास आदिसे शिशुपाल आदि राजाओंकी बुद्धि(तदाकार) भगवदाकार हो गई जिससे वे राजा लोग सोते, बैठते समयमें भी वैरभावसे कृष्णका ध्यान करते थे वैसा करनेसे उन्हें भगवत् साम्य प्राप्त हो गया तो आप जैसे लोग तो अनुराग बुद्धिसे उन भगवान्के गति विलास आदिका सोते, बैठते ध्यान करते हैं फिर आपको भगवत्साम्य प्राप्त हो इसमें क्या कहा जाए?।।४८।।

मापत्यबुद्धिमकृथाः कृष्णे संर्वात्मनीश्वरे।
मायामनुष्यभावेन गूढैश्वर्ये परेऽव्यये।।४९।।

श्लोकार्थ: वसुदेवजी! तुम श्रीकृष्णको केवल अपना पुत्र ही मत समझो. वे सर्वात्मा, सर्वेश्वर, कारणातीत और अविनाशी हैं. उन्होंने लीलाकेलिए मनुष्यरूप प्रकट करके अपना ऐश्वर्य छिपा रक्खा है।।४९।।

बा.प्र.: इसलिए हे वसुदेवजी! तुम तुम्हारे दूसरे पुत्रोंकी तरह कृष्णमें पुत्र बुद्धि मत करो. माङ्का योग होनेसे 'अकृथाः' यहां अट् नहीं होना चाहिए किन्तु इसे छान्दस प्रयोग समझना चाहिए. कृष्णको पुत्र न माननेमें दो हेतु है. कृष्ण सबकी आत्मा होनेसे सबका उपादान कारण है और जगतका जन्म, पालन और संहार करनेके कारण वो ईश्वर निमित्त कारण हैं और अव्यय, विकार रहित है तो वह पुत्र कैसे हो सकता है तो फिर वह कृष्ण ईश्वर रूपसे प्रतीत क्यों नहीं होता? अपनी संकल्पिकात्मिका मायासे उन्होंने नटके समान नाट्यसे अपने ऐश्वर्य, ईश्वर भावको छिपा दिया है अतः मनुष्य रूपमें दिखाई देते हैं ईश्वररूपमें नहीं।।४९।।

भूभारासुरराजन्यहन्तवे गुप्तये सताम्।

अवतीर्णस्य निर्वृत्यै यशो लोके वितन्यते।।५०।।

श्लोकार्थ: वे पृथ्वीके भारभूत राजवेषधारी असुरोंका नाश और संतोकी रक्षा करनकेलिए ही अवतीर्ण हुए हैं और इसीकेलिए जगत्में उनकी कीर्ति भी गाई जाती है।।५०।।

बा.प्र.: जब भगवान् इस संसारके उपादान और निमित्त कारण आदि हैं तो फिर अवतार ग्रहण करनेका प्रयोजन क्या है? इस आशंकाको लक्ष्य करके कहते हैं, पृथ्वीके उपर भारभूत जो असुर राजा हैं उनका नाश करनकेलिए सज्जनोंकी रक्षा करनकेलिए तथा सब जनोंको परमानन्द देनकेलिए अवतार लेनेसे उनका यश सर्वत्र फैल रहा है।।५०।।

श्रीशुक उवाच

एतच्छ्रुत्वा महाभागो वसुदेवोऽतिविस्मितः।
देवकी च महाभागा जहतुर्मोहमात्मनः।।५१।।

श्लोकार्थ: श्रीशुकदेवजी कहते हैं, प्रिय परीक्षित्! नारदजीके मुखसे यह सब सुनकर परम भाग्यवान् वसुदेवजी और परम भाग्यवती देवकीजीको बड़ा ही विस्मय हुआ. उनमें जो कुछ मायामोह अवशेष था, उसे उन्होंने तत्क्षण छोड़ दिया।।५१।।

बा.प्र.: नारदजीसे इस इतिहासको सुनकर भगवान्के माता-पिता होनेके कारण देवकी और वसुदेव दोनों ही भाग्यशाली थे इसलिए उन दोनोंकेलिए 'महाभाग' शब्दका प्रयोग किया है. 'आत्मनः' अर्थात् अन्तःकरण का और देह आदिमें जो अहन्ताममतारूप अध्यास(विपरीत भावना) थी उसका परित्याग किया।।५१।।

इतिहासम् इमं पुण्यं धारयेद् यः समाहितः।
स विधूयेह शमलं ब्रह्मभूयाय कल्पते।।५२।।

श्लोकार्थ: राजन्! यह इतिहास परम पवित्र है जो एकाग्रचित्तसे इसे धारण करता है, वह अपना सारा शोक-मोह दूर करके ब्रह्मपदको प्राप्त होता है।।५२।।

बा.प्र.: प्रकृत इतिहासके श्रवण आदिका फल बताते हैं. सुननेवाले और कहनेवालोंका कल्याण करनेवाला, यह इतिहास है इसे जो पुरुष एकाग्रचित्त होकर धारण करता है वह इसी जन्ममें मोक्ष प्रतिबन्धक पापको दूर करके

ब्रह्मभावको अर्थात् मुक्तिको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है.।।५२।।

इस प्रकार एकादश स्कन्धके पञ्चम अध्यायका
श्रीगिरिधरजी विरचित बालप्रबोधिनी–विवरण समाप्त.

इस प्रकार श्रीमद्भागवत महापुराणके एकादश स्कन्धमें
जीवन्मुक्ति प्रकरणके जो भक्तिहीन यद्वा भक्तोंके फल निरूपण नामसे कहा जाता
है उसके पञ्चम अध्यायकी पूर्ति हुई.